विवेकशिखा

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१६ | अप्रैल—१९९७ | अंक—४

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

फार्म—४

(नियम ८ देखिए)

विवेक शिखा

१. प्रकाशन स्थान : छपरा
२. प्रकाशन की आवर्तता : मासिक
३. मुद्रक का नाम : डॉ० केदार नाथ लाभ
४. प्रकाशक का नाम : श्रीमती गंगा देवी
क्या भारत के नागरिक है : हाँ
पता— रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर, छपरा

५. सम्पादक का नाम : डॉ० केदारनाथ लाभ
क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ
पता— रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा-८४१३०१

६. उन व्यक्तियों के नाम व पता जो समाचार पत्रों के स्वामी हो तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार हों। — श्रीमती गंगा देवी, रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा—८४१३०१ (बिहार)

मैं, गंगा देवी, एतद् द्वारा घोषित करती हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

ह०/गंगा देवी
प्रकाशक

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण देव ने कहा है		१
२. श्रीराम का मंगलमय अवतरण	गोस्वामी तुलसीदास	२
३. लोहे के पेड़ हरे होंगे	(सम्पादकीय सम्बोधन)	३
४. श्रीराम जन्म-रहस्य		७
५. आध्यात्मिक रूपान्तरण	स्वामी यतीश्वरानन्द	१०
६. भगवान श्रीराम की महिमा-गरिमा	गोपालजी झा 'गोपेश'	२२
७. हिमालय की गोद में स्वामी विवेकानन्द	रत्न चन्द धीर	२५
८. स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियाँ	स्वामी सदाशिवानन्द	२७
९. विवेक चूड़ामणि	स्वामी वेदान्तानन्द	२९
१०. समाचार		

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष —१६ अप्रैल—१९९७ अंक—४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ
सहायक सम्पादक :
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-२२६३९

सहयोग राशि :

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

अवतार मानो ईश्वर का कर्मचारी है—जैसे जमींदार और उसका नायब। जमींदार अपने अधिकार के प्रदेशों में से जहाँ भी कोई गड़बड़ हो वहीं अपने नायब को भेज देता है, उसी प्रकार संसार में जहाँ भी धर्महानि होने लगती है, उसे दूर करने के लिए ईश्वर वहीं अपने अवतार को भेज देते हैं।

(२)

ऐसा मत ठीक नहीं कि राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं—केवल रूपक हैं; या शास्त्र आदि में उनका जो वर्णन है वह केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही सत्य है—उनका भौतिक अस्तित्व नहीं था। तुम्हारी-हमारी तरह वे भी रक्त-मांस के बने मनुष्य ही थे परन्तु वे दिव्य स्वरूप थे इसीलिए उनके जीवन की रूपकात्मक व्याख्या भी सम्भव है। अवतार और ब्रह्म का सम्बन्ध मानो तरंग और समुद्र की तरह है।

(३)

मैं तुमसे कहता हूँ, जो उन्हें चाहता है वह उन्हें पा लेता है। इस बात को अपने जीवन में परख कर देख लो। सच्चे उत्साह के साथ तीन ही दिन तक चेष्टा करो, तुम निश्चित सफल होगे। जिसकी एकाग्रता और व्याकुलता प्रबल होती है वह शीघ्र ही भगवान् को पा लेता है।

(४)

जो साधु दवाई देता हो, झाड़-फूँक करता हो, नशा करता हो, रुपया-पैसा लेता हो और माला, तिलक आदि बाह्य चिह्नों के आडम्बर रचते हुए मानो साईनबोर्ड लगाकर अपनी साधुगिरी का प्रदर्शन करता हो, वह सच्चा साधु नहीं है। उसका संग मत करना।

श्रीराम का मंगलमय अवतरण

—गोस्वामी तुलसीदास

भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज धारी।
भूषण बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनंता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥

करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता॥

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

उपजा जब ग्याना प्रभु मुसकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥

★

लोहे के पेड़ हरे होंगे

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो;

उस दिन एक विचित्र बात हुई थी। मेरे आवासीय भवन के आहाते में पिछले वर्ष एक अंगूर की लता लगायी गयी थी। वह लता हरी-भरी होकर काफी दूर तक फैल गयी थी। लेकिन अचानक वह सूखने लगी। और सूखने का क्रम इतनी तेजी से चला कि जाड़ा आते-आते उसकी एक-एक पत्ती झुलस गयी। इतनी हरी-भरी, प्यारी-प्यारी अंगूर की फैली हुई बेलें और किसी सुकुमार बच्चे की कोमल हथेली की भांति मसृण पत्तियाँ! ये सब-की-सबी झुलस चुकी थीं। अंगूर की उस मुरझायी लता को देखने का मन नहीं करता था। देखते ही जी उदास हो जाता। और एक दिन मैंने अपने मन में सोचा था कि क्यों न इसे उखाड़ कर फेंक दूँ। लेकिन अंगूर की लता उखाड़ी नहीं गयी। वह वैसी ही सूखी डंठलों को लिये कंकाल की तरह फैमी रही। मैं भी न जाने क्यों, स्नान करने जाता तो हर सुबह एक लोटा पानी उसकी जड़ में डाल देता।

और उस दिन एक विचित्र बात हो गयी। अंगूर की उन सूखी, कंकाल की भांति कड़ी डंठली में दो-चार हरी पत्तियाँ निकल आयी थीं। रामदेव—मेरा आवासीय कर्मचारी—दौड़ा आया कहने, 'देखिए, चलकर देखिए, अंगूर में नयी पत्तियाँ निकल आयी हैं।' वह फूला नहीं समा रहा था खुशी से। बड़ी मिहनत से उसी ने अंगूर की लता लगायी थी। उसके मुरझाने का उसे कम गम नहीं था। और ठीक ही, अंगूर की सूखी लता में इस गर्मी के मौसम में हरी पत्तियाँ देखकर मैं भी विस्मित, पुलकित और प्रसन्नचित्त हो उठा। रामदेव ने बताया, उसे किसी ने कहा था, अंगूर की लता के मुरझाने पर चिन्ता नहीं करने को। वह फिर हरी-भरी हो जायगी—समय आने पर। और आज तो उस लता में अंगूर के कई गुच्छे भी निकल आये हैं!

उसी दिन जब मैं कॉलेज पहुँचा तो देखा वहाँ एक गहमा-गहमी थी। प्राङ्गण में संगीनधारी पुलिस का दल तैनात था। कॉलेज के मुख्य द्वार पर ही एक मैजिस्ट्रेट खड़े थे—बड़े भद्र और सज्जन। वे विवेक शिखा के ग्राहक भी थे। मुझे देखते ही मुस्कुराते हुए कहा—"आपकी 'विवेक शिखा' निष्फल हो रही है। उसे पढ़कर भी लड़के आपस में छुरेबाजी करते रहते हैं। बम फोड़ते हैं। विद्यामंदिर को भी दूषित करते हैं। क्या परिणाम है 'विवेक शिखा' का?" इस प्रश्न के लिए मैं तैयार नहीं था। मैं भी मुस्कुराते हुए "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन—मैं काम करने का अधिकारी हूँ, फल तो भगवान के हाथ है!"—कहते हुए भीतर चला गया।

लेकिन यह बात सोचने की है। क्या शुभ वाणी का; भद्र वाणी का, मंगलमय वाणी का कोई प्रभाव आज का समाज स्वीकार करने को तैयार नहीं? क्या नैतिकता, प्रेमाचरण और सहिष्णुता

—ये शब्द केवल शब्दकोष के शृंगार बनकर रह गये हैं ? हम कहते हैं, श्रीरामकृष्ण आये थे धर्म-स्थापन के लिए। एक नये धर्म की स्थापना के लिए। वह धर्म है 'जतो मत' ततो पथ'—का अर्थात् सबको अपने-अपने रास्ते से अपनी पूर्णता के, अपने देवत्व के, अपने परम भागवतस्वरूप के उद्घाटन का पूर्ण अधिकार है। हमें किसी को उसके सत्य-पथ पर चलने से रोकने-टोकने का अधिकार नहीं। चलने दो सबको दिव्यायन की ओर—परम प्रेममय भगवान् के धाम की ओर—अपनी-अपनी मन चाही राहों से। हम कहते हैं, स्वामी विवेकानन्द आये थे हम में मनुष्यत्व के गौरव को बोध कराने। उन्होंने कहा था Never forget the glory of human nature—मनुष्यत्व के गौरव को कभी भी भूलो नहीं, उन्होंने कहा था,—We Indians are non-worshippers, Our God is man—हम भारतीय निरुपासक हैं। हमारे देवता, हमारे आराध्यदेव मनुष्य हैं। उन्होंने कामना की थी, हमारी आनेवाली पीढ़ी इसी मनुष्य की पूजा करे, इसी मनुष्य में शिव का, इसी नर में नारायण का, मानव में माधव का साक्षात्कार कर उसकी सर्वतोभावेन उपासना-अर्चना करे। मानविकता की इससे बड़ी बात हमने कभी जानी नहीं, सुनी नहीं। लेकिन आज हो क्या रहा है ? लोग पूछते हैं—कहाँ, श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की अमृत-रस-सिक्त वाणी का कोई प्रभाव तो हम आज के समाज में कहीं देखते नहीं। चारों ओर केवल स्वार्थ-परता, विषय-विकार, कामांधता, हिंसा संघर्ष और घृणा की कुत्सित गंध ही फैली हुई परिलक्षित हो रही है।

लोगों के प्रश्न सही हैं। उस दिन उक्त मैजिस्ट्रेट ने जो प्रश्न हँसते हुए किया था उसमें दम था, गंभीरता थी, सोचने को प्रेरित करने की क्षमता थी।

हमें इतिहास की ओर लौटना पड़ेगा। भगवान् बुद्ध ने करुणा और अहिंसा का जो मंगलमय संदेश दिया उसने धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व को एकबार प्रभावित किया था। किन्तु, संसार ने फिर उस करुणा को जैसे विस्मृत कर दिया। वह हिंसा और संघर्ष पर उतर गया। ईसा मसीह ने जिस प्रेम और क्षमा की अमृतधार का संचार किया उसके माननेवाले यूरोपीय देशों ने ही दो-दो बार विश्वयुद्ध की तांडव लीला की। मोहम्मद साहब ने जिस भाईचारे और समानता का दिव्य पाठ पढ़ाया उनकी संतानें ही आज आपस में मार-काट पर पशुओं की भाँति उतर गयी हैं। गुरु नानक ने जिस सर्वधर्म समादर की शिक्षा दी उसके माननेवाले ही आज आतंक का वातावरण बनाये हुए हैं। तो क्या इन दैवी संदेशों का, अमृत वाणियों का कोई महत्त्व नहीं है ? क्या हमें ऐसी विषम परिस्थितियों में हताश और निराश होकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाना चाहिए ?

नहीं। यह तो आत्मघाती स्थिति होगी। संसार में जब-जब कुत्सा, अनाचार, संघर्ष और स्वार्थपरता का बोलबाला हुआ है महापुरुष मंगलमय संदेश लेकर आये हैं और उन्होंने अपनी संदेश-सुधा का पान कराकर मृतप्राय जनजाति को नवजीवन प्रदान किया है। आज हम जिस विषम परिस्थिति में पड़ गये हैं, उससे उबरने के लिए रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव के प्रचार-प्रसार की सर्वाधिक आवश्यकता आ गयी है। क्यों ?

हम अपने समाज में, अपने चारों ओर जो विक्षोभ, आक्रोश, संघर्ष एवं असहिष्णुता देखते हैं, जो भोग-प्रियता, कामुक लम्पटता और व्यभिचार-अनाचार देखते हैं, वे हमारे रोग नहीं हैं—वे हैं

हमारे रोग के लक्षण। रोग हमारा कहीं और है। हम सोचने लगे हैं कि इस देश का कल्याण संसद और विधान मंडल में पारित प्रस्तावों के द्वारा होगा। हमारी चिंतन-धारा यह हो गयी है कि इस राष्ट्र के भावी भाग्य का निर्धारण चुनावों के जरिये होगा, सत्ता के हथियाने से होगा, राजनैतिक आन्दोलनों से होगा, वर्ग-संघर्ष के द्वारा होगा और किसान-मजदूर या अन्य वर्ग-संगठनों के द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों, नारों, जुलूसों और जेल अभियानों के द्वारा होगा। हम यह सोचने में लगे हैं कि देवेगौड़ा देश की समस्याओं का समाधान कर लेंगे या सीताराम केसरी। हम इस उद्वेग में पड़े हैं कि हमें ज्योति बसु की ओर जाना चाहिए या मायावती की ओर। हमारा यही अभिशाप है। जबतक हम अपनी चिन्तनधारा को राजनीति की ओर उन्मुख किये रहेंगे, हम जाति-वाद, संकीर्ण स्वार्थपरता, अगला-पिछड़ा संघर्ष और हिंसा-बलात्कार आदि को रोक नहीं सकेंगे। हमारा मुख्य रोग यह है कि हम राजनीति और वैज्ञानिक विकासोन्मुख भौतिकवाद की ओर जिस तेजी से लपक पड़े हैं, उसी तेजी से अपनी ऊँची आध्यात्मिक-नैतिक-सांस्कृतिक परम्परा से कट भी गये हैं। हमारी मुख्य समस्या हिंसा और मार-काट की घटनाएँ नहीं है, हमारी मुख्य समस्या यह है कि हमारे पाँव अपनी धरती से खिसक गये हैं, हमारी आँखें अपने चन्दन-वन से हट गयी हैं, हमारे कान अपने अन्तर के संगीत को सुनने में समर्थ नहीं रह गये हैं, हमारी जीभ आत्म-रस का आस्वादन कर नहीं पा रही है और हमारी त्वचा उस मलय समीर के स्पर्श से पुलक-बोध नहीं कर पा रही है जो हजारों वर्षों से हमें स्पंदित-रोमांचित करता था। यानी हमारी आध्यात्मिक संवेदनशीलता, नैतिक ग्रहण-शीलता, धार्मिक-सांस्कृतिक चेतना कहीं से सूख गयी है। हम रुग्ण और बीमार हो गये हैं—भीतर से, अपने काफी गहरे से, अपने अन्तस्तल से।

रात अंधेरी हो। मूसलधार वृष्टि हो रही हो। घर में पैसे नहीं हों। और ऐसे में घर का कोई स्वजन यदि भयंकर रूप से बीमार हो जाय तो हम क्या करते हैं? हम छूट पड़ते हैं किसी चिकित्सक की ओर—अंधेरे की, वर्षा की, गरीबी की बिना परवाह किये हुए। कर्ज लेकर भी रोगी की चिकित्सा करानी ही होगी।

आज हमारा देश, हमारा समाज भयंकर रूप से रुग्ण है, अस्वस्थ है, बीमार है। संकट की इस विषम घड़ी में हमें, हमारे देश को, चिकित्सक की खोज करनी होगी। कौन हैं वे चिकित्सक जो हमें हमारे रोग से मुक्त कर सकेंगे? वे चिकित्सक हैं बिल्कुल हमारे समीप, अत्यन्त निकट श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द।

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द द्वारा हमारे रोग के निवारण के लिए प्रस्तुत नुस्खे हमें अपनाने ही होंगे। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का सम्यक् अध्ययन कर और उन्हें अपने

जीवन में ढालकर हम समता, स्वाधीनता, भ्रातृत्व, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सच्ची मानवता की उपलब्धि का मार्ग पा सकते हैं। हमें इनके द्वारा बताये गये राज-मार्ग पर चलना ही होगा—नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।

आज भले ही हम सभी देवी-देवताओं को भूल जायें लेकिन मनुष्य में अन्तर्निहित देवता को, जीव में निहित शिव के शाश्वत, अक्षय और अमृत सन्बन्ध को भूलकर हम अपना सर्वनाश कर लेंगे। हम जीव को तो देखते हैं किन्तु उसमें निहित शिव को नहीं देख पाते। हमें उसे देखना होगा। उस देवता को पहचानना होगा। अर्थ, काम, नाम, यश और ऐन्द्रिक आसक्तियाँ अपनी जगह पर रहें। लेकिन हमारे जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर का, शिव का, मनुष्य के देवत्व का संधान करना ही है। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का यही मुख्य संदेश है।

संसार सर्वथा दोषमुक्त न कभी था, न कभी होगा। श्रीरामकृष्ण कहते हैं—'संसार में चींटी की तरह रहो। इस संसार में नित्य और अनित्य दोनों मिले हुए हैं जैसे बालू में चीनी मिली रहती है। तुम्हें चींटी बनकर केवल चीनी को गहण करना है।'

यह चीनी क्या है? यही है शिव। यही है मनुष्य का देवत्व। यही है त्याग, प्रेम, निःस्वार्थता। हमें इसी चीनी के आस्वादन के लिए अनन्त, अथक और अनाविल पुकार करनी है। हम करते रहेंगे यह पुकार। हम गाते रहेंगे वह गीत, जो जीव में निहित शिव को पहचानने की दृष्टि देता है, हम गाते रहेंगे वह गीत जो हमें त्याग परायण, धर्म परायण, निःस्वार्थ और प्रेमपूर्ण होने की प्रेरणा प्रदान करता है। हम श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की अमृत वाणी-वाणी की मादक झंकार अविचल भाव से तबतक सुनाते रहेंगे जन-जन को, जब तक वे स्वस्थ और नीरोग नहीं हो जाते। हमारा विश्वास है—

लोहे के पेड़ हरे होंगे,
तू गान-प्रेम के गाता चल।
नम होगी यह मिट्टी जरूर,
आँसू के कण बरसाता चल।

भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द से हमारी आकुल प्रार्थना है कि वे हममें अपनी वाणी के प्रचार-प्रसार की, अपने संदेश—संगीत के सुमधुर गायन की क्षमता प्रदान करें। जय श्रीरामकृष्ण! जय स्वामी विवेकानन्द!

रामनवमी : १६ अप्रैल

श्रीरामजन्म-रहस्य

जिस समय संसार में दुराचार, दुर्विचार का परितः प्रसार होने लगता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धैर्य न्याय आदि मानवोचित सद्गुणों का अपमान होने लगता है, दम्भका ही साम्राज्य तथा वेद-शास्त्रोक्त वर्णाश्रमधर्म का विलोप होने लगता है, दैत्य-दानवों या दैत्यप्राय कुपुरुषों से धरा व्याकुल हो जाती है, सत्य पुरुष तथा देवगण अनीति से उद्विग्न हो उठते हैं, उस समय सर्वपालक भगवान् किसी रूप में प्रकट होकर श्रुतिसेतु का पालन करते और अपने मनोहर, मङ्गलमय, परम पवित्र चरित्रों का विस्तार करके प्राणियों के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

अभिज्ञों का मत है कि यदि भगवान् का विशुद्ध, सत्वमय, परम मनोहर, मधुर स्वरूप प्रकट न होता तो अदृश्य, अग्राह्य, अव्यपदेश्य, परवश के साक्षात्कार की बात हीं जगत् से मिट जाती। भगवान् की मधुर मूर्ति एवं चरित्रों में मन के आसक्त हो जाने पर उसकी निर्मलता और एकाग्रता सहज में ही सिद्ध हो जाती है। निर्मल एवं एकाग्रचित्त ही भगवान् के अचिंत्य रूप के चिन्तन में समर्थ होता है। जैसे अंजन द्वारा शुद्ध नेत्र से सूक्ष्म वस्तु का परिज्ञान सुगमता से हो जाता है वैसे ही भगवन्चरित्र एवं उनके मधुर स्वरूप के परिशीलन से निर्मल होकर चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्म भवदीय रहस्यों को समझ लेता है।

इसके अतिरिक्त अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को प्रेम-योग प्रदान करने के लिए भी प्रभु के लीला विग्रह का अभिर्भाव होता है। इन्हीं सब भावों को लेकर मधुमास के शुक्लपक्ष की नवमी को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र का जन्म हुआ।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड—नायक भगवान् सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् की भ्रुकुटी के संकेत मात्र से उनकी मायाशक्ति विश्व प्रपञ्च का सर्जन, पालन तथा संहार करती है। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) सान्निध्य से लौह में हलचल होती है वैसे ही भगवान् के सन्निध्य मात्र से मायाशक्ति को चेतना प्राप्त होती है। जैसे झरोखों में सूर्य किरणों के सहारे निरन्तर परिभ्रमण करते हुए अपरिगणित त्रसरेणु दिखाई देते हैं वसे ही प्रकृतिपारदृश्वा लोकोत्तरपुरुषों, को भगवान् के सन्निधान में अन्नत विश्व दिखायी देते हैं। 'यत्सन्निधौ चुम्बक लोहवद्धि जगन्ति नित्यं परितों भ्रमन्ति।' भगवान अपने पारमार्थिक रूप से निराकार, निर्विकार, निष्फल, निरीह, निर्गुण होते हुए भी मायाशक्ति युक्त रूप से अनादिवद्ध, स्वाशभूत जीवों पर कृपा करके उनके कल्याणार्थ विश्व के सर्जन एवं संहारादि लीलाओं में प्रवृत्त होते हैं। मनीषी बड़े कुतुहल से सकल विरुद्ध धर्माश्रय भगवान के इस कौतुक को देखकर कहते हैं--

त्वत्तोऽस्य जन्म स्थितिसंयमान्विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्धयते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते तथा॥

अर्थात्—हे नाथ! विज्ञजन निर्गुण, निरीह, अविक्रिय से ही इस विविध वैचित्र्योपेत विश्व का जन्म स्थिति तथा संहार बतलाते हैं। भला जो निरीह तथा सर्वथा निष्क्रिय है वही निरन्तर चाञ्चल्यपूर्ण विश्व की सृष्टि करने वाला है—यह कैसे ?

परन्तु भगवान् के ईश्वर तथा ब्रह्म इन दो रूपों में इन विरुद्ध धर्मों के सामंजस्य होने में कोई भी आपत्ति नहीं है। मायायुक्त ऐश्वर रूप विश्व निर्माण के उपयुक्त निखिल क्रियाएँ हैं, परन्तु मायारहित ब्रह्म रूप में निरीहता एवं निष्क्रियता ही है। अर्थात् मायाशक्ति के सहारे होनेवाले समस्त व्यवहारों का मायाधिष्ठान, स्वप्रकाश, विशुद्ध ब्रह्म में उपचार होता है। अस्तु, वही व्यापक ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुण, विगत विनोद, भक्त प्रेमवश श्रीमद्राघवेन्द्र, रामचन्द्र रूप में श्रीकौशल्याम्ब के मङ्गलमय अङ्कम में व्यक्त होता है।

निखिल ब्रह्माण्ड मण्डल जिसके परतन्त्र है, वह मायापति भगवान् भास्वती भगवती श्री कृपा देवी के पराधीन है और वह अनुकम्पा महारानी भी दीनता के परतन्त्र है। भगवान् के यहाँ दोनों की खूब सुनवायी होती है।

जगद्विधेयं ससुरासुरं ते भवान्
विधेयो भगवन् कृपायाः।
सा दीनताया नमतां विधेया
ममास्त्ययत्नो पनतैव सेति ॥

जो दीनता अन्यत्र अवहेलना की दृष्टि से देखी जाती है, वही भगवान् के यहाँ परमादरणीया है। शोक, मोह, जरा, मरण, आधि-व्याधि, दरिद्रय दुःखों से उत्पीड़ित प्राणियों के यहाँ दीनता की कमी नहीं है। उसी का दुखड़ा सर्वत्र गाया जाता है, परन्तु दुर्भाग्यवश वर गाया जाता है ऐसी जगह जहाँ कुछ मिलना-जुलना तो दूर रहा, फूटे मुँह से सहानुभूति का भी एक शब्द नहीं निकलता। वहाँ तो दीन को अवहेलनाओं का ही पात्र बनना पड़ता है। परन्तु दीनानाथ होने के नाते भगवान् दीनता के ग्राहक हैं। उनके सामने दीनता प्रकट करने में तो कृपणता न होनी चाहिए। जैसे संघर्ष के द्वारा व्यापक अग्नि का सगुण साकार रूप में प्राकट्य होता है, किंवा शैत्य के सम्बन्ध से जल का ओला हो जाता है, वैसे ही प्रेमियों के प्रेम-प्राचुर्य से विशुद्ध सत्वमयी थी कौसल्या माँ से पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् का प्राकट्य होता है। यज्ञपुरुष द्वारा समर्पित चरू के विभागानुसार भगवान् का ही श्रीराम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुध्न रूप में आविभार्व होता है।

कुछ महानुभावों का मत है कि साङ्गोपाङ्ग शेषशायी भगवान का अविभार्व चार रूप में होता है। साक्षात् भगवान् श्रीराम रूप में और शेष, शँख, चक्र ये लक्ष्मण, भरत, शत्रुध्न रूप में प्रकट होते हैं। आधे अंश में राम और आधे अंश में लक्ष्मण प्रभृति तीनों भ्राता। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सप्रपञ्च ब्रह्म का श्रीराम रूप में अविर्भाव हुआ।

प्रणव के 'अ' 'उ' 'म्' इन तीन मात्राओं के वाच्य विराट् हिरण्यगर्भ अव्याकृत का शत्रुध्न, लक्ष्मण तथा भरत रूप में और अर्द्ध मात्रा का अर्थ तुरीय पाद या वाच्य वाचकातीत सर्वाधिष्ठान परम तत्व का श्रीरामरूप में प्रादुर्भाव हुआ। निष्प्रपंच अर्द्ध मात्रा का अर्थ तुरीय तत्त्व ही चरु के अर्द्ध अंश से और शेष तीन मात्राओं के अर्थ सप्रपंच तीनों तत्त्व चरु के अर्द्ध अंश से व्यक्त हुए हैं। प्रणव की जैसे साढ़े तीन मात्रा मानी गयी है, वैसे ही सोलह मात्रा भी मानी जाती है। 'अकारो वै सर्वावाक।' समस्त वाक्यों का अन्तर्भाव अकार

में ही होता है और समस्त वाक्यों का आविर्भाव प्रणव से ही होता है। अतः प्रणव में ही सोलह मात्रा की कल्पना करके उसके सोलह वाच्य स्थिर किये गये हैं। जाग्रत् अवस्था का अभिमानी व्यष्टि विश्व और समष्टि स्थूल प्रपंच का अभिमानी तैजस और हिरण्यगर्भ एवं कारण प्रपञ्च, सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ और अव्याकृत होता है। इन सभी कल्पनाओं का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म तुरीय तत्त्व होता है।

इस पक्ष में 'तुरीय विराट्' शत्रुघ्न, 'तुरीय हिरण्यगर्भ' लक्ष्मण, 'तुरीय अव्याकृत' भरत और 'तुरीय तुरीय' श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र रूप में प्रकट होते हैं, और उनकी माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति, श्रीजनक नन्दिनी रूप में प्रकट होती हैं। सर्वथा पूर्णतम पुरुषोत्तम वेदान्तवेद्य भगवान् का ही श्रीरामचन्द्र रूप में प्राकट्य होता है तभी तो उनके दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, अनुगमन मात्र से प्राणियों की परमगति हो जाती है—

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा
संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र
गच्छन्ति योगिनः॥

जो परम तत्त्व विषय, कारण, देवताओं तथा जीव को भी सत्ता स्फूर्ति प्रदान करने वाला है वही श्रीरामचन्द्र रूप में प्रकट होता है।

विषय करना सुर जीव समेता,
सकल एकते एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

समष्टि-व्यष्टि, स्थूल सूक्ष्मकारक समस्त प्रपञ्चमय क्षेत्र के कूटस्थ निर्विकार भासक हो राम हैं—'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।'

जिनके अनुग्रह से एवं जिनमें सब रमण करते हैं और जो सर्वान्तरात्मा रूप से सब में रमण करते हैं वे ही मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र है। जिनयांनन्दसिन्धु सुख राशि के एक तुषार से अनन्त ब्राह्मण्ड आनन्दित होता है वे ही जीवों के जीवन, प्राणों के प्राण, आनन्द के भी आनन्द भगवान् 'राम' है।

(भक्ति-सुधा)

♣

हे महादेवी, अपने प्रणत पुत्रों पर कृपा करो। हे कृपामयी, अपने चरणों का आश्रय प्रदान करो। हम तुम्हें प्रणाम करते हैं। हे ज्ञानदायिनी सारदा, तुम निरन्तर लज्जा के आवरण से आवृत हो। हे कृपामयी, तुम निरन्तर पापों से हमारी रक्षा करती रहो। हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।

—स्वामी अभेदानन्द

आध्यात्मिक रूपान्तरण

—स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन, वाराणसी

आकस्मिक परिवर्तन

विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में हम पशु प्रवृत्तियों युक्त पशु-मानव की दिव्य चेतना और दिव्य करुणा को प्रकाशित करते हुए दिव्य मानव में रूपान्तरण की आश्चर्यजक घटनाएँ प्राप्त करते हैं।

श्रीरामकृष्ण की जीवनी का अध्ययन करने वाले लोगों को बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार—अभिनेता, महापुरुष गिरीश का नाम याद होगा। हमारे यौवन में हमें उनसे मिलने तथा उनकी बातें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक समय उन्होंने असंयत आवारा भोगलिप्त जीवन व्यतीत किया था। लेकिन उनके गुरु श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श ने उनके जीवन का अद्भुत रूपान्तरण कर उनके जीवन को पूरी तरह बदल दिया। पाशविक प्रवृत्तियों की अवस्था से वे दैवी पवित्रता की अवस्था में परिवर्तित हो गये, जहाँ वे प्रतिक्षण दिव्य-चेतना का अनुभव करते थे।

पुरातन काल में भारत में एक युवक रहता था, जिसने अपने परिवार के भरण-पोषण का और कोई उपाय न पाकर दस्यु वृत्ति को अंगीकार किया था। एक दिन उस काल के महान ऋषि और ब्रह्मज्ञ गुरु नारद उस ओर से जा रहे थे, और उस डाकू ने उनपर आक्रमण कर दिया। उसकी भर्त्सना करते हुए नारद ने कहा, "तुम कहते हो कि ये सारे अपराध तुम अपने परिवार के लिए करते हो, लेकिन क्या तुम सोचते हो कि उनमें से कोई भी तुम्हारे द्वारा अब तक संचित महान पापों के कुछ अंश का भागीदार होगा? जाकर उनसे पूछो।" डाकू ने कभी इस पर विचार नहीं किया था और वह इस विषय में सत्य जानना चाहता था। अतः नारद को पेड़ में बांधकर, जिससे कि वे कहीं न जा सकें, वह घर गया। उसने अपने पिता, माता और पत्नी आदि अपने सभी सम्बन्धियों को बताया कि वह किस प्रकार डाके और हत्या करके जीविकोपार्जन कर रहा है, और पूछा: "क्या तुम मेरे पापों में भागीदार होओगे?" लेकिन कोई भी इसके लिए जरा भी तैयार नहीं था। उसे जो उत्तर मिला वह था, "हमारा भरण-पोषण करना तुम्हारा कर्तव्य है, तुम कैसे जीविकोपार्जन करते हो, हमें इससे कोई मतलब नहीं, और हम तुम्हारे पाप के भागीदार भी नहीं हो सकते।" उनके उत्तर से उसे आघात पहुँचा और उसे चैतन्य हुआ। उसे अपने जीवन की व्यर्थता और हानिकारक कला का अहसास हुआ और उससे सत्य के पथ पर अग्रसर होने की महान इच्छा का उदय हुआ। शीघ्रता से नारद के पास लौटकर उसने उन्हें बन्धन मुक्त किया और उनसे गुरु बनने तथा आध्यात्मिक उपदेश देने का निवेदन किया। कहा जाता है कि उसने ध्यान करना सीखा और उस अवस्था में प्रायः इतनी देर तक डूबा रहता था कि चींटियों ने एक बल्मीक उसके चारों ओर बना दिया। वर्षों बाद जब नारद पुनः उसके पास आये, तो पूर्व का दस्यु एक ब्रह्मज्ञ पुरुष बन गया था। ये रामायण के, जिसमें ईश्वरावतार राम

की जीवनी तथा लीला का वर्णन है, रचयिता बाल्मीकि थे।

शताब्दियों बाद सन्त फ्रांसिस का आसिसी नगर में जन्म हुआ था। वे नगर के आमोद प्रिय युवकों को नेता थे तथा उनके मित्र उन्हें "आमोदकों का राजा" कहते थे। लेकिन एक बार एक छोटे से गिरजे में प्रार्थना करते समय उन्होंने उन्हें गिरजे की मरम्मत का आदेश देती एक दैवी वाणी को सुना जिससे उनमें तत्काल एक महान परिवर्तन हो गया। उन्होंने प्रार्थना, पवित्रता और सेवा के जीवन को चुना। लेकिन ऐसा जीवन इतना आसान नहीं था। रूपान्तरण के तत्काल बाद वे एक पहाड़ी मार्ग से भजन गाते हुए गुजर रहे थे कि उनका सामना डाकुओं के एक दल से हुआ। उन्होंने पूछा, "तू कौन है?" सन्त फ्रांसिस ने उत्तर दिया, कि वे महाराज के दूत हैं। क्रोधित डाकू उन्हें एक बर्फ के गड्ढे में फेंककर आगे बढ़ गये। फ्रांसिस बिना निरुत्साहित हुए उठ खड़े हुए और भगवान् का गुणगान करते हुए आगे बढ़ गये। उनका आध्यात्मिक परिवर्तन काफी गहरा था तथा उसने उन्हें समग्र कठिनाइयों का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान की थी। आगे चलकर उन्होंने एक बड़े धर्म-संघ की स्थापना की।

चौथी शताब्दी के महान धर्माचार्य और साधक सन्त आगस्टीन को लो। यौवन में उन्होंने बहुत कामुक जीवन व्यतीत किया था। लेकिन वे शीघ्र अपने आप से ऊब गये और उसके बाद उन्हें आत्मा की पुकार और देह की वासनाओं के बीच महान संघर्ष का सामना करना पड़ा। आखिरकार वे और अधिक सहन नहीं कर सके। एक दिन अश्रुपूर्ण नेत्रों से वे पुकार उठे, "हे नाथ! और कितने दिन! और कितने दिन? कल छोड़ूँगा, कल छोड़ूँगा, ऐसे करते करते कितने दिन बीत गये। आज ही क्यों न त्यागूँ और अभी क्यों नहीं?" जब वे इस प्रकार ज्ञानालोक के लिए पुकार रहे थे, उन्होंने एक वाणी सुनी, "पुस्तक उठाओ और पढ़ो, पुस्तक उठाओ, और पढ़ो।" आगस्टीन अपने एक मित्र केपास गये और बाईबिल को खोला। पुस्तक "शिष्यों के कार्य" में खुली, और उन्होंने पढ़ा, "उच्छृंखल आचरण और मदमस्तता में नहीं, आवारागर्दी और भोग में नहीं, झगड़ों और ईर्ष्या में शान्ति नहीं है। इसके बदले प्रभु ईसा मसीह पर आश्रित होओ, और देह को अपनी काम-वासनाओं की पूर्ति मत करने दो।" तत्काल उनमें एक महान परिवर्तन हो गया। उनकी काम-वासना नष्ट हो गई। रंगरेलियाँ करने वाला आगस्टीन परिवर्तित होने लगा। उन्हें उस दैवी विधान की झलक प्राप्त हुई जो सबका निर्माता है। "जो था," वह सत्य नहीं रहा, केवल "होना" बचा, ऐसा होना जो चिरन्तन था। भूतकाल एक चिरन्तन वर्तमान में विलीन हो गया। अपनी आत्मा के अन्तस्तल से आगस्टीन ने प्रार्थना की, "प्रभु, तुम्हारा दर्शन हो, इसमें मेरी सहायता करो, स्वयं को देखने में मेरी सहायता करो। क्योंकि तुम्हें जानने पर मैं अपने को जान सकता हूँ।" बाद में एक आध्यात्मिक शक्ति की सहायता से जिसे उनका मन समझने में असमर्थ था, वे संघर्ष करते हुए अपने "अहंकार के चक्र" के परे देखने में समर्थ हुए थे। यह एक सच्ची दैवी अनुभूति थी जिसने आगस्टीन को आध्यात्मिक चेतना से उत्पन्न आन्तरिक सन्तुलन युक्त सन्त और ऋषि बना दिया। इस आन्तरिक सन्तुलन का रहस्य आन्तरिक जीवन का अध्यात्म चेतना में रूपान्तरण तथा अपनी चेतना के केन्द्र का अहंकार से परिवर्तित होकर परमात्मा में होना है।

श्रीरामकृष्ण के महान शिष्य स्वामी विवेकानन्द में हम इस चेतना के केन्द्र के परिवर्तन

को घटना को देख पाते हैं। पिता की आकस्मिक मृत्यु के बाद युवक नरेन्द्र को बहुत कठिन समय से गुजरना पड़ा क्योंकि उनका परिवार विपत्ति में था और उन्हें कोई नौकरी खोज निकालना आवश्यक था। वे एक आफिस से दूसरे आफिस गये, लेकिन कोई सफलता नहीं मिली। मित्र कहलाने वालों लोगों ने मुँह मोड़ लिया। अचानक संसार एकदम बुरा प्रतीत होने लगा। किसी दिन परिवार में खाने को कुछ नहीं होता था और जब नरेन्द्र के पास पैसे नहीं होते तो वे अपनी माँ को कह देते कि उन्हें कहीं खाने का न्योता है, और भूखे रह जाते। इन परीक्षाओं की घड़ी में उन्हें संशय हुआ। उन्होंने प्रश्न किया, "क्या सचमुच ईश्वर है? और यदि है, तो क्या दुःखी मानव की कातर प्रार्थना सुनता है?"

एक दिन कलकत्ता में अपने घर थकेमांदे और भग्न-हृदय लौटते समय नरेन्द्र थकान से अभिभूत हो सड़क के किनारे एक मकान के बरामदे में गिर पड़े। अचानक, मानो किसी दिव्य शक्ति से उनकी आत्मा के आवरण एक के बाद एक दूर होने लगे। ईश्वरीय विधान और दुःख की विद्यमानता के सह-अस्तित्व के विषय में उनके सारे संशय दूर हो गये। गहरे आत्म-निरीक्षण के द्वारा वे इन सभी बातों का अर्थ समझ गये। शारीरिक थकान दूर हो गई और उनका मन अद्भुत शक्ति और शान्ति से तरोताजा हो गया। परवर्ती काल में विवेकानन्द को अनेक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं और वे एक महान ब्रह्मज्ञ पुरुष बने।

आन्तरिक परिवर्तन का हेतु

ये घटनाएँ भव्य होने के कारण हमारी कल्पना को प्रभावित करती हैं। लेकिन इन रूपान्तरणों से भिन्न पशु-प्रकृति से दैवी स्थिति-लाभ करने वाले लोगों के अनेक साधारण दृष्टान्त भी हैं। यह कैसे होता है? पुराने व्यक्तित्व में से एक नया व्यक्तित्व उभरता है, जो पूर्णरूपेण नयी जाति का-सा प्रतीत होता है, तथा जिसकी पूर्व के व्यक्तित्व से कम समानता दिखाई देती है। अवश्य शारीरिक दृष्टि से दोनों का आधार एक ही होता है, लेकिन आन्तरिक बनावट-चेतना-पूरी तरह परिवर्तित हो गई होती है। ऐसा परिवर्तन कैसे होता है?

पुरातन योगाचार्य पतंजलि ने एक सूत्र में कहा है: निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् (पा० योगसूत्र ४ : ३)

अर्थात् 'सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे उसकी बाधओं को दूर कर देनेवाले निमित्त मात्र हैं—जैसे, किसान जब पानी के बहने में रुकावट डालने वाली मेड़ को तोड़ देता है, तो पानी अपने स्वभाव से ही बहने लगता है।" एक जाति से दूसरी जाति में क्रम विकास इसी तरह होता है। इस सूत्र पर टीका करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

"जब कोई किसान खेत में पानी सींचने की इच्छा करता है, तब उसे अन्य किसी जगह से पानी लाने की आवश्यकता नहीं होती; खेत के समीपवर्ती जलाशय में पानी संचित है, बीच में बाँध रहने के कारण पानी खेत में नहीं आ पा रहा है। किसान उस बाँध को खोल भर देता है, और बस, पानी गुरुत्वाकर्षणके नियमानुसार अपने आप खेत में बह आता है। इसी प्रकार सब व्यक्तियों में सब प्रकार की उन्नति और शक्ति पहले से ही निहित है। पूर्णता ही मनुष्य का स्वभाव है, केवल उसके किवाड़ बन्द हैं, वह अपना यथार्थ रास्ता नहीं पा रही है। यदि कोई इस बाधा को दूर कर सके, तो उसकी वह स्वाभाविक

पूर्णता अपनी शक्ति के बल से अभिव्यक्त होगी ही। और मनुष्य अपने भीतर पहले से ही विद्यमान शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। जब यह बाधा दूर हो जाती है और प्रकृति को अपनी अप्रतिहत गति प्राप्त हो जाती है, तब हम जिन्हें पापी कहते हैं, वे भी साधु के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रकृति ही हमें पूर्णता की ओर ले जा रही है, कालान्तर में वह सभी को वहाँ ले जायेगी। धार्मिक होने के लिए जो कुछ साधनाएँ और प्रयत्न हैं, वे सब केवल निषेधात्मक कार्य हैं—वे केवल बाधा को दूर कर देते हैं और इस प्रकार पूर्णता के किवाड़ खोल देते हैं, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, जो हमारा स्वभाव है।

प्राचीन योगियों का विकासवाद आज आधुनिक विज्ञान के शोध से अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। फिर भी योगियों की व्याख्या आधुनिक व्याख्या से कहीं श्रेष्ठ है। आधुनिक मत कहता है, विकास के दो कारण हैं—यौन निर्वाचन (Sexual Selection) और बलिष्ठ अतिजीविता (Survival of the fittest) पर ये दो कारण पर्याप्त मालूम नहीं होते। मान लो मानव-ज्ञान इतना उन्नत हो गया कि शरीर-धारण या पति या पत्नी की प्राप्ति सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ गयी। तब तो आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओं के मतानुसार, मानवीय उन्नति-प्रवाह रुद्ध हो जायेगा और जाति की मृत्यु हो जायेगी। फिर इस मत के फलस्वरूप तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति अपने विवेक से छुटकारा पाने की एक युक्ति पा लेता है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं, जो दार्शनिक नामधारी बनकर जितने भी दुष्ट और अनुपयुक्त मनुष्य हैं, (मानो ये ही उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के एकमात्र विचारक हैं), उन सब को मार डालकर मनुष्य जाति की रक्षा करनी चाहते हैं। किन्तु प्राचीन विकासवादी महापुरुष पतंजलि कहते हैं कि परिणाम या विकास का वास्तविक रहस्य है—प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसी की अभिव्यक्ति या विकास मात्र। वे कहते हैं कि इस पूर्णता की अभिव्यक्ति में बाधा हो रही है। हमारे अन्दर यह पूर्णता-रूप अनन्त ज्वार अपने को प्रकाशित करने के लिये संघर्ष कर रहा है। ये संघर्ष और होड़ केवल हमारे ज्ञान के फल हैं। ये इसलिये होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाय और पानी भीतर कैसे लाया जाय। हमारे पीछे जो अनन्त ज्वार है, वह अपने को प्रकाशित करेगा ही। वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है। केवल जीवन धारण या इन्द्रिय सुखों को चरितार्थ करने की चेष्टा इस अभिव्यक्ति का कारण नहीं है। ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक हैं, अनावश्यक हैं, बाह्य व्यापार मात्र हैं। वे सब अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हममें से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्ण-स्वभाव हमें क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर कराता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिये आवश्यक है। पशु के भीतर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है, ज्योंही किवाड़ खोल दिया जाता है, अर्थात् त्योंही बाधा हट जाती है, त्योंही वह मनुष्य प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार, मनुष्य के भीतर भी देवता अव्यक्त भाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नहीं होने देता। जब अज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है।" (विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खंड, द्वितीय संस्करण, १९८९, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, पृ० २०५—७)

यहाँ "देवता" का अर्थ हमारी आध्यात्मिक अन्तरात्मा है, जो अज्ञान की अन्तिम बाधा को

दूर करने में हमारी सहायता करती है, ताकि आत्मा अपने समस्त ऐश्वर्य में प्रकाशित हो सके।

परिवर्तन की मुख्य बाधा—अज्ञान—

यह अज्ञान की बाधा क्या है? मनोविज्ञान हमें सिखाता है कि अचेतन मन की गहराइयों में पड़े सूक्ष्म संस्कारों, प्रवृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं का हमारे चेतन जीवन पर महान प्रभाव पड़ता है। ये सूक्ष्म शरीर, मनोमय भावनात्मक शरीर में रहते हैं, और स्थूल शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। अवचेतन मन के नियंत्रण का अर्थ सूक्ष्म भावनात्मक शक्तियों, इच्छाओं और वासनाओं को निम्न स्तरों पर अभिव्यक्त न होने देना है। उन्हें उच्चतर स्तर पर अभिव्यक्त करना चाहिये। उन्हें शुद्ध तथा उनका उदात्तीकरण करके समाज और व्यक्ति के कल्याण के लिये उनका उपयोग किया जाना चाहिये।

आध्यात्मिक दृष्टि से सभी सूक्ष्म प्रवृतियों और संस्कारों को आध्यात्मिक दिशा प्रदान की जानी चाहिये। आदतों और प्रवृतियों को उनकी कारणावस्था में पर्यवसित कर मूल में ही नियंत्रित करना चाहिये। बाद में उनकी कारणावस्था का अतिक्रमण करना चाहिये।

अहंकार से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। अहंकार अज्ञान से पैदा होता है। केवल आत्म साक्षात्कार अथवा अन्तर्यामी परमात्मा के साक्षात्कार से ही इच्छाओं के बीज भस्म हो सकते हैं, तथा आत्मा अपनी नैसर्गिक पवित्रता, मुक्ति और शान्ति प्राप्त कर सकती है। एक गौण उपनिषद् में कहा गया है:

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। (अमृत बिन्दु उपनिषाद्-२)।

अर्थात् मानवों का मन ही उनके बन्धन और मोक्ष का कारण होता है। स्थूल पदार्थों में मन की आसक्ति का परिणाम बन्धन है। जब मन आसक्ति से रहित होता है तब आत्मा उस मुक्ति को पुनः प्राप्त कर लेती है, जो हम सभी का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

हमारी सभी प्रेरणाओं, वासनाओं और इच्छाओं के पीछे आत्मा की अनन्त जीवन, पूर्ण ज्ञान और चिर आनन्द की इच्छा विद्यमान है। यह इच्छा उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति होने पर, उस सच्चिदानन्द के साक्षात्कार पर, पूर्ण होती है, जो हमारी व्यक्तिगत चेतना को परिव्याप्त और परिवेष्ठित किये हुए हम सभी में विद्यमान है। अज्ञान और अहंकार के कारण ही हम अपने आध्यात्मिक स्वरूप को भूल जाते हैं। आत्म-साक्षात्कार के द्वारा हमारे मुक्त स्वरूप की पुनः उपलब्धि हो सकती है। आध्यात्मिक जीवन का यही खुला रहस्य है।

यह एक सामान्य अनुभव है कि गलत प्रकार के विचार और भावनाएँ हमारे मन और देह को प्रभावित करते हैं। बहुत से सत्यान्वेषी चिकित्सक और मनोविशेषज्ञ हमें यह तथ्य बता रहे हैं कि अज्ञान से उत्पन्न गलत दृष्टिकोण तथा भावनाओं के कारण बहुत से शारीरिक व मानसिक रोग होते हैं, जिन्हें बहुत हद तक रोका या निवारित किया जा सकता है। एक बुद्धिमान चिकित्सक, सर विलियम ओस्लर ने कहा है कि एक क्षय-रोगी का भविष्य उसके सीने में क्या है, इसके बदले इस बात पर अधिक निर्भर करता है कि उसके मस्तिष्क में क्या है। हमारे बाह्य आचरण के बदले हमारे विचारों और भावनाओं का अधिक महत्त्व है।

प्रत्येक व्यक्ति बदल सकता है—

एक सांसारिक व्यक्ति भी बदल सकता है,

यदि वह अपनी सांसारिकता तथा मन में बनी समस्त ग्रन्थियों को त्यागने के लिये तैयार हो, अन्यथा नहीं। उत्साहहीन धार्मिकता पर्याप्त नहीं है। लंगर डाली नौका आगे नहीं बढ़ सकती। हमारी ग्रन्थियाँ सांसारिक जीवन के साथ हमारे लंगर के समान हैं। पहले लंगर उठाना पड़ेगा। हमें अपनी ग्रन्थियों को काटना होगा, चाहे यह कितना ही कष्टप्रद क्यों न हो। उसके बाद हमें अपनी जीवन नौका को तेजी से खे-कर गँवाये समय की भरपाई करना चाहिये। जब तक हम हमारे गहरे-मूलबद्ध संस्कारों का समूल उच्छेद नहीं करते तब तक हम आध्यात्मिक बनने की आशा नहीं कर सकते। आध्यात्मिक शुद्धिकरण के पहले नैतिक शुद्धिकरण होना चाहिये।

बहुत से दक्ष मनोविज्ञों का कथन है कि अन्तर्द्वन्द्व, अनभिव्यक्त या निरुद्ध क्रोध, ईर्ष्या, घृणा भय तथा अन्य नकारात्मक भावनाएँ गर्दन का दर्द, पेट में छाला, मधुमेह, हृदय रोग तथा मनोरोग या "न्यूरोसिस" नामक अन्य रोगों का कारण हो सकती हैं। वे हमें बताते हैं कि किस प्रकार भावनाओं के उदात्तीकरण से न्यूरोसिस की प्रकृति में परिवर्तन आ सकता है, तथा रोगी का बाह्य जीवन बदल सकता है।

स्वयं के लिये सोचना सीखने से, जीवन की समस्याओं का सामना करना सीखने से तथा स्वास्थ्यकर तरीके से जीवन पुनियोजित करने से वर्षों तक पंगु रहने के बाद पुनः स्वस्थ होने वाले लोगों की आश्चर्यजनक घटनाएँ पायी जाती हैं। एक आधुनिक मनोविज्ञ का यह स्पष्ट कथन उत्साहवर्द्धक है: "मानव व्यक्तित्व परिवर्तित हो सकता है। केवल एक छोटा बालक ही आनम्य या लचीला नहीं है। यावज्जीवन हम सभी में परिवर्त्तन की, यहाँ तक कि मौलिक परिवर्तन की क्षमता बनी रहती है।

भारत में एक कहावत है, "जब तक सांस तब तक आस" हममें से प्रत्येक सच्चे व्यक्ति के लिये आशा है जो आन्तरिक रूप से श्रेष्ठ होना चाहता है। भगवद गीता में श्रीकृष्ण सभी को आशा दिलाते हुए कहते हैं: "यदि तुम बहुत बड़े दुराचारी भी होओ, तोभी ज्ञान नौका से सभी पापों को पार करके अशुभ से उत्तीर्ण हो सकते हो।" (भगवद् गीता, ४.३६)। आत्मज्ञान धधकती हुई अग्नि के समान है जो सभी बुराइयों को भस्म करके आत्मा के ऐश्वर्य को प्रकाशित करता है, जो आत्मा सभी के हृदय में विद्यमान है, भले ही हमें यह पता हो या नहीं।

हिन्दू ऋषिगण अपने व्यापक अनुभवों के आधार पर से हमें बताते आये हैं कि आध्यात्मिक चेतना का परिवर्तन कर हम अपने विचारों और भावनाओं में तथा अपनी देह में भी महान परिवर्तन ला सकते हैं। अपवित्र मन और अपवित्र सूक्ष्म शरीर ही नहीं, बल्कि पशु मानव की अपवित्र देह भी पवित्र सूक्ष्म शरीर और देव-मानव की पवित्र मूलदेह में रूपान्तरित की जा सकती है। देव-मानव का शरीर आध्यात्मिक रीति से संयोजित और भिन्न प्रकार से गठित विशुद्धतर उपादानों से निर्मित होता है, जिससे कि उस शरीर से वह कोई बुरा कार्य नहीं कर सकता है।

श्रीरामकृष्ण लौह निर्मित तलवार का दृष्टान्त देते हैं, जो पारस पत्थर के स्पर्श से सोने की हो गई है। तलवार का आकार बना रहता है, लेकिन सोने की तलवार से कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। तलवार की गुणवत्ता में परिवर्तन की तरह हमारे देह और मन की गुणवत्ता में भी परिवर्तन होता है। योगाभ्यास का यह परिणाम होता है।

मानव स्वभाव और प्रवृत्तियाँ—

आध्यात्मिक जीवन में हमारी जिन सूक्ष्म

प्रवृत्तियों और आदतों को जीतना, रूपान्तरित करना तथा अतिक्रमण करना पड़ता है, उनके बारे में विभिन्न मत विद्यमान हैं। भगवद् गीता में तमस् रजस् और सत्त्व युक्त तीन प्रकार के लोगों का वर्णन है। पशु-मानव में तमस् का प्राधान्य होता है, तथा अज्ञान, अन्धकार, प्रमाद, और मोह उसके लक्षण हैं। सामान्य मानव को प्रभावित करने वाले वासना और चांचल्य तथा उनके साथ रहने वाले दुःख और अशान्ति रजस् के लक्षण हैं। आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में सत्व का प्राधान्य होता है, और ज्ञान और समत्व उसके लक्षण हैं। (भगवद् गीता १४ : ११-१३)

तमोगुणी व्यक्ति अशुचि भक्षण करता है। (भ० गी० १७.१०) तामसिक कर्ता अस्थिर या अयुक्त, उद्धत, विषादी, शठ और आलसी होता है। (भ० गी० १८ : २८) वह अपने समस्त कर्म मोह से तथा परिणाम की चिन्ता किये बिना प्रारंभ करता है। यदि वह दान करता है तो गलत पात्र को, गलत देश और समय में अथवा गलत रीति से देता है। (भ० गी० १७ : २२) यदि वह उपासना करता है तो वह श्रद्धा और दान रहित होती है। (भ० गी० १७ : १३) वह अन्ध-विश्वासी और मोहग्रस्त होता है और दूसरों को कष्ट देने के लिये तप करता है।

(भ० गी० १७ : १९)

रजोगुणी व्यक्ति कटु; अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण और उत्तेजक आहार पसंद करता है। (भ० गी० १४ : ९) वह कर्म के प्रति अत्यधिक आसक्त तथा स्वार्थी होता है, अथवा दूसरों तथा दूसरों के स्वार्थ में लिप्त होता है। वह कर्म के फलों के लिये अत्यधिक अद्विग्न होता है, तथा उसके सभी कर्म इच्छाओं तथा अहंकार की तुष्टि के लिये होते हैं। वह लोभी, हिंसक, आसानी से हर्ष अथवा शोकान्वित होने वाला तथा चिन्ता और भयग्रस्त होता है। (भ० गी० १८ : २७) वह अनिच्छा से फलाकांक्षा और प्रत्युपकार के उद्देश्य से दान देता है। (भ० गी० १७ : २१) वह उपासना भी फलाकांक्षा से तथा दंभयुक्त करता है। (भ० गी० १७ : १२) यदि वह तप करता है, तो वह भी सत्कार मान पूजार्थ तथा दंभपूर्वक होता है। (भ० गी० १७ : १८)

सत्वगुणी अथवा समतायुक्त व्यक्ति आयु, सत्व, बल और आरोग्यवर्धक शुद्ध आहार ग्रहण करता है। (भ० गी० १८ : ८) वह आसक्ति और अहंकार रहित हो कर्म करता है, तथा धृति, उत्साह युक्त और सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहता है। वह मनोयोग सहित किन्तु अनासक्त हो फलाकांक्षा रहित अथवा प्रतिदान की चिन्ता के बिना कार्य करता है। (भ० गी० १८ : २६) वह दयापूर्वक उचित देश और काल के अनुसार ऐसे लोगों को दान देता है, जो उसका प्रतिदान न कर सके। (भ० गी० १७ : २०) वह तीन प्रकार के तप गहरी श्रद्धा तथा केवल आध्यात्मिक लक्ष्य के लिये करता है। (भ० गी० १७ : १७) शौच, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप कहलाते हैं। अनुद्वेगकर, सत्य और कल्याणकारक वाणी तथा स्वाध्याय उसके वाणी के तप हैं। वह आध्यात्मिक चिन्तन में लगे रहने के कारण प्रायः मौन रहता है। ऐसे मौन का अभ्यास, सौम्यत्व आत्म-विनिग्रह तथा भावसंशुद्धि उसके द्वारा किये गये मानसिक तप हैं। (भ० गी० १७-१४-१७)

हमारे स्वभाव और प्रवृतियों के निर्माण के विषय में विभिन्न दार्शनिक मतवाद हैं। व्यवहार-वादी कहते हैं कि पर्यावरण सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इससे भिन्न, अन्त-निरीक्षणवादी की यह मान्यता है कि सहजात प्रवृतियाँ प्राणी में विद्यमान स्वाभाविक प्रेरणाएँ अथवा आवेग हैं, तथा हम पर्यावरण अथवा बाह्य

प्रेरणा या उद्दीपन की प्रतिक्रिया के परिणाम मात्र नहीं हैं। प्राणी में परिवर्तित होने की एक स्वतः विद्यमान विकासोन्मुख प्रेरणा एक जीवन-शक्ति रहती है। कुछ मनोविज्ञ और जीवशास्त्री हमारी सहजात प्रवृतियों का मूल बाल्य-काल में खोजते हैं यहाँ तक कि सारा श्रेय वे माता-पिता और पुरखों को देते हैं।

अन्य पाश्चात्य चिन्तकों का विश्वास है कि आकाशीय जीव अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं के साथ मानव शरीर धारण करते हैं। एक महान क्रम विकासवादी और डार्विन के समर्थक, हक्सले का मत था कि प्रत्येक प्राणी अपनी करनी का फल भोगता है, यदि इस जन्म में नहीं, तो अनेक जन्मों की शृंखला के किसी-न-किसी जन्म में, जिसका यह जन्म नवीनतम है। उनका निष्कर्ष था कि क्रम-विकास के सिद्धान्त की तरह पुनर्जन्मवाद भी सत्य पर आधारित है। हम कुछ स्वभावगत प्रवृतियों के साथ जन्म ग्रहण करते हैं, इसीलिये प्राणी बाह्य उत्तेजना के प्रति एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया करता है।

भगवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण पुरातन हिन्दू मान्यता बताते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार जीव एक देह में बाल्यकाल, यौवन और वृद्धावस्था से गुजरता है, उसी तरह वह अन्य देह में भी जाता है। (भ० गी० २ : १३) जिस प्रकार व्यक्ति पुराने वस्त्र त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी तरह अन्तरात्मा जीव शरीरों को त्याग कर नया शरीर धारण करती है। (भ०गी० २:२२) लेकिन हमारी प्रकृति व आदतें हमारे साथ जाती हैं। जिन पूर्वजों तक हम अपनी आदतों और स्वभाव का अनुमार्जण करते हैं, वे हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। अपने पूर्वजों को बलि का बकरा बनाने और अपनी बुराइयों के बदले उन्हें दोषी ठहराने के बदले, हमें अपनी वर्त्तमान स्थिति की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिये और उसके बाद स्वयं को श्रेष्ठतर दिशा में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिये। यह सबसे व्यावहारिक दृष्टिकोण है।

हमारे भीतर देव और दानव दोनों हैं—

अपने आन्तरिक स्वभाव का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि हममें परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान हैं। देव अथवा दानव खोजने हमें बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वे सभी हमारे भीतर हैं। भारत के पुरातन ऋषि महान दार्शनिक और साथ ही मनोविज्ञ भी थे, और उन्होंने इस बात को उपनिषदों की अनेक कहानियों के माध्यम से व्यक्त किया है। तदनुसार हम बृहदारण्यक उपनिषद् में पाते हैं कि प्रथम स्रष्टा प्रजापति की तीन प्रकार की सन्तानों, देवता, मानव और दैत्यों ने उनसे उपदेश की याचना की। इन तीनों को उन्होंने एक ही अक्षर 'द' का उपदेश दिया। देवताओं ने उसका अर्थ दाम्यत या "अपने मन और इन्द्रियों को संयत करो" समझा। मानवों ने इसका अर्थ दत्त या 'लोभ का संवरण और दान", समझा और दैत्यों ने उसका अर्थ दयध्वं या "अपने क्रूर स्वभाव को नियंत्रित कर दयालु होना" समझा।

महान अद्वैतवादी दार्शनिक और ऋषि शंकराचार्य ने इस कथा की इस तरह व्याख्या की है : मानव से भिन्न कोई दैत्य या देवता नहीं हैं। एक ही मानव जाति संयम, दान और दया तथा सत्व, रजस् और तमस् के न्यूनाधिक अनुपात से देव, मानव अथवा दैत्य कहलाती है। इसीलिये एक ही निर्देश श्रोता की मूल प्रकृति के अनुरूप तीन भिन्न प्रकार से समझा गया था। आत्मसंयम विहीन लेकिन अन्य सद्गुणों से युक्त लोग देवता हैं। अत्यधिक लोभी व्यक्ति सामान्य मानव हैं,

और जो क्रूर स्वभाव लोग दूसरों को हानि पहुँचाने में सुख का अनुभव करते हैं, वे दानव है। उल्लिखित तीनों साधनाएँ मानव के लिये ही हैं, क्योंकि देवता, मानव और दानव हमारे मानव स्वभाव के ही अंग हैं और हमारी समता, शुभ कर्मों तथा लोभ और क्रूरता के नियंत्रण के अनुपात के अनुसार हम ही देव, मानव अथवा दानव कहलाते हैं। (बृहदारण्यक उपनिषद ५-२१-३ तथा इस अंश पर शांकरभाष्य)।

उपनिषदों में एक ही वृक्ष पर रहने वाले सुन्दर पंखों वाले तथा एक-दूसरे के घनिष्ठ मित्र, दो पक्षियों सम्बन्धी एक प्रसिद्ध वर्णन है। एक पक्षी अज्ञान से भ्रमित हो वृक्ष पर उगने वाले फल चाव से खाता है, जब कि दूसरा पक्षी शान्ति-पूर्वक वृक्ष के शिखर पर बैठा रहता है। फल खा रहा नीचे का पक्षी वासना अथवा रजस् से प्रेरित हो इच्छाओं की पूर्ति का प्रतीक है। ऊपर वाला पक्षी सतोगुणी लोगों की तरह निचली डालियों पर उग रहे फलों के लिये लालायित नहीं होता। थोड़ी-थोड़ी देर में व्यग्रता से खाने में लगा लेकिन फिर भी निरंतर असन्तुष्ट बना हुआ पक्षी प्रशान्त, किसी भी समय उड़ने को तत्पर ऊपर वाले पक्षी की ओर देखता है। वह अपने ऊपर वाले मित्र के प्रति अत्यधिक प्रेम का अनुभव करता है, और उससे मिलने की इच्छा से ऊपर की ओर फुदकता है लेकिन दूसरे फल को देखकर रूक जाता है। परन्तु आखिरकार ऊपर की ओर उसकी प्राप्ति में सभी बाधाओं की इच्छा त्याग कर वह ऊपर वाले पक्षी से मिलने में सफल होता है। लेकिन तब उसे पता चलता है कि दोनों पक्षी वस्तुतः एक ही हैं। (मुण्डकोपनिषद् ३.१.१-३, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.६, ७)। तब उसे पता चलता है कि अज्ञान के कारण उसने सांसारिक इच्छाओं की वासनोत्पादक शक्ति, रजोगुण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इस तादात्म्य के समाप्त होने पर तथा अपने वास्तविक अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात्कार होने पर पशु-स्वभाव रूपान्तरित हो जाता है, तथा उसका अतिक्रमण हो जाता है।

आत्मा के नकाब—

अविद्या हानिकारक है, क्योंकि वह आत्मा को विस्मृत करवा देती है। और इस अविद्या के कारण आत्मा एक नकाब, व्यक्तित्व रूपी नकाब, पहन लेती है। हम एक के बाद एक इतने नकाब (मुखौटे) पहन लेते हैं कि यह कहना भी कठिन हो जाता है कि हम वास्तव में क्या हैं। बंगाल के महान नाटककार—अभिनेता गिरीश कहा करते थे, "कभी किसी अभिनेत्री की साज-सज्जा करने के बाद मैं उसे पहचानने में असमर्थ हो जाता था, अथवा यह नहीं बता पाता था कि कौन-सा पात्र कौन है।" इसी तरह आत्मा एक सूक्ष्म शरीर धारण कर लेती है, फिर एक स्थूल शरीर धारण करती है, जिसके ऊपर विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा धारण करती है और अन्त में वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ हो जाती है। और जैसे कभी हम अपने को पहचान नहीं पाते उसी तरह दूसरों को भी पहचान नहीं पाते। जबतक अविद्या का नकाब दूर नहीं होता और हम इन नकाबों के भीतर से देखने में समर्थ नहीं होते, तबतक हम अन्तरात्मा को नहीं पा सकते। इन नकाबों या आवरणों के साथ मिथ्या तादात्म्य ही हमारे दुःख और बन्धन का कारण है। अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होते ही, आत्मा का परमात्मा के साथ ऊपर बैठे दूसरे पक्षी के साथ, जो सदा अपने प्रिय साथी की प्रतीक्षा कर रहा है—मिलन होते ही दुःख का अन्त हो जायेगा।

वेदान्त के अनुसार मन और इन्द्रियाँ आत्मा के सूक्ष्म आवरण या शरीर का निर्माण करते हैं, जबकि मौलिक शरीर स्थूल आवरण है। इन दोनों आवरणों को शुद्ध करना है, जिससे वे पूर्व विद्यमान आत्मा का प्रकाश प्रतिबिम्बित कर सकें। सभी नैतिक और आध्यात्मिक साधनाओं का उद्देश्य यही है।

हमें देह, मन और आत्मा की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। देह और मन के सम्बन्ध के विषय में अनेक मान्यताएँ हैं। मनोविश्लेषकवृन्द व्यक्ति को देह और मन अथवा मन और देह नहीं बल्कि देह-मन-समष्टि मानते हैं। (देखिए ई० ए० स्ट्रेकर तथा के० ई० एपल की पुस्तक-डिस्कवरिंग अवरसेल्व्स, न्यूयार्क, मेकमिलन कम्पनी, 1954, पृ० 19) उनमें से एक ने कहा है, "देह और मन एक और अविभाज्य है। तुम्हारा मन तुम्हारी देह है, और तुम्हारी देह तुम्हारा मन है" कुछ दूसरे लोग मन को देह से ऊँचा स्थान देते हैं। मन एक अभौतिक पदार्थ-सा है। उसे देखा, छुआ, मापा अथवा तौला नहीं जा सकता। यदि तुम चाहो तो उसे कोई आध्यात्मिक वस्तु कह सकते हो। (वही० पृ०) यह देह-मन-संघात-सिद्धान्त से कुछ आगे है। डा० यूँग और भी आगे बढ़ कर कहते हैं : अहंकार रोग ग्रस्त हो गया है, क्योंकि वह पूर्ण से अलग हो गया है, तथा मानवता और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। डा० कार्ल जी० युँग, "माडर्न मेन इन सर्च आफ ए सोल" लन्दन, रोलेज एण्ड केगन पाल, 1953, p. 141) लेकिन उनकी पुस्तक "मॉडर्न मेन इन सर्च ऑफ ए सोल" से यह स्पष्ट है कि उन्होंने भी यह आविष्कार नहीं किया है कि विशुद्ध आत्मा मन से भिन्न है जो एक सूक्ष्म आवरण और एक कारण मात्र है। पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी भी अपने बाल्यकाल में है, और उसके द्वारा मानव की वास्तविक आत्मा की खोज निकालना बहुत दूर है।

हिन्दू ऋषियों ने मानव के वास्तविक स्वरूप का पता लगाने के लिए मानव चेतना के सभी विभिन्न स्तरों का अध्ययन किया था। वेदान्त मानव के तीन शरीरों का वर्णन करता है, जो अपने वास्तविक स्वरूप में विशुद्ध आत्मा है। सर्व प्रथम कारण शरीर, या चैतन्य-रहित अहंकार है, जिसमें विविधता सुप्तरूप से पड़ी रहती है, जैसा कि सुसुप्ति में होता है। इसके बाद सूक्ष्म शरीर है, जो चेतनायुक्त अहंकार, मन, सूक्ष्म-स्मृति संस्कारों, सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का समष्टि है, जो सभी स्वप्नावस्था में अभिव्यक्त होते हैं। लेकिन हमारी तथाकथित जाग्रतावस्था क्रियाशीलता की तीसरी अवस्था, प्रायः स्वप्न से केवल थोड़ी ही बेहतर होती है। स्थूल भौतिक नेत्र, कर्ण तथा अन्य इन्द्रियाँ उन सूक्ष्म शक्तियों के कारण या यन्त्र मात्र हैं, जो प्रतिदिन के भौतिक जीवन के क्रियाकलापों में दर्शन शक्ति, श्रवण शक्ति आदि के रूप में अभिव्यक्त होती है। स्थूल अंगों से मुक्त स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का आस्पद या स्थान है, तथा उसके द्वारा नियंत्रित होता है।

आध्यामिकता का महत्वपूर्ण मापदंड-चरित्र का रूपान्तरण :

क्या तुम ऐसे लोगों से मिले हो जो यह ढिंढोरा पीटते फिरते हैं कि उनका उद्धार हो गया है, और जो दूसरों को अपने मुक्ति-मार्ग पर बलपूर्वक लाने के लिए अत्याधिक आतुर हैं? वे स्वयं की रक्षा करना सीखने के पूर्व दूसरों की रक्षा करना चाहते हैं। दिखावटी धर्म-परिवर्तन के विषय में एक कथा है। एक रविवार को प्रातःकाल एक बालिका ने एक किराने की दुकान के सामने वाला दरवाजा खटखटाया। ऊपर की मंजिल से उसकी सहेली,

किराना वाले की कन्या ने झाँक कर कहा, "बहन हम सभी धर्म सभा में गये थे और हम अब परिवर्तित हो गये हैं। अब यदि तुम्हें रविवार के दिन दूध लेना हो, तो तुमको पीछे के दरवाजे से आना होगा।" पहले रविवार के दिन दुकान खुलती थी, लेकिन अब से सामने का दरवाजा बन्द रहेगा, और लेनदेन पहले की तरह पीछे के दरवाजे से होता रहेगा। हममें से बहुत से लोग कुछ इसी प्रकार की बात करते हैं। ऐसा "धर्मान्तरण" पूर्व के जीवन से भी बुरा है। सच्चा परिवर्तन होना चाहिए। हमें अपनी जीवन पद्धति को बदल कर पहले से श्रेष्ठतर बनाना चाहिए। दिखावे और ढोंग का जीवन त्याग कर हमें नैतिक पथ का गंभीरता के साथ अनुसरण करते हुए जीवन को साधन पथ पर बनाये रखने वाले समता युक्त सत्वगुण की सहायता से तमोगुण और रजोगुण अर्थात् तामसिक और विक्षेपकारक शक्तियों से युक्त अपने निम्नस्वभाव पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

श्रीरामकृष्ण के महान शिष्यों के पादपद्मों में हमें यही शिक्षा प्राप्ति हुई है। उन्होंने हमें बताया कि श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में कुछ भक्तों के साथ क्या घटा था। बहुत से आध्यात्मिक जिज्ञासु उनके पास, विशेषकर उनके जीवन के अन्तिम-काल में एकत्रित होने लगे थे। श्रीरामकृष्ण के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पाया के उनके कुछ गुरुभाई श्रीरामकृष्ण की दैवी शक्तियों की चमत्कारी अभिव्यक्तियों के लिए व्यग्रता से प्रतीक्षा किया करते थे, तथा उनसे वे उच्च आध्यात्मिक भावभूमि में आरूढ़ हो जाते थे। उनमें से कुछ लोग अश्रुवर्षण तथा भावों को अत्यधिक अभिव्यक्ति सहित अर्धबाह्य दशा प्राप्त करने लगे। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार श्रीरामकृष्ण से शिकायत की कि उन्हें ऐसी कोई भावावस्था प्राप्त नहीं हुई है। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें कहा कि मानव स्वभाव का संपूर्ण परिवर्तन करनेवाली तथा उच्च आध्यात्मिक अनुभूति दिलाने वाली मन और हृदय की पवित्रता की उपलब्धि की तुलना में छिछली भावनाएँ और दर्शन बहुत तुच्छ हैं। "वत्स, चिन्तित मन होओ। जब एक विशाल हाथी एक छोटी-सी तलैया में प्रवेश करता है तो उसमें महान उथल-पुथल मच जाती है, लेकिन यदि वह गंगा में उतरे तो बहुत कम हलचल होती है। ये मात्र छोटी तलैया जैसे हैं, तुम उस नदी की तरह हो।"

श्रीरामकृष्ण लीला प्रसंग :

श्रीरामकृष्ण के निर्देश के अनुसार स्वामी विवेकानन्द ने युवा भक्तों से कहा कि यदि भावोद्वेग के बाद तदनुरूप रूपान्तरण तथा सांसारिक आकर्षणों को नष्ट करने में और आध्यात्मिक चेतना जगाने में समर्थ चरित्र की पवित्रता का उदय न हो तो उन भावावेगों की आध्यात्मिक जीवन में कोई सच्ची उपयोगिता नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन के लिये भावात्मक कठोर साधना करने के अनिच्छुक बहुत से लोग केवल दिखावा करते हैं और ढोंगी बन जाते हैं। ऐसे कुछ लोगों में जो नैतिक आधार को दृढ़ बनाने तथा पवित्रता की उपलब्धि करने का प्रयत्न नहीं करते, ऐसे महान भावों का प्रवाह हो सकता है, जिसकी तीव्रता को वे सहन नहीं कर पाते हैं और परिणाम स्वरूप मानसिक सन्तुलिन खो देते हैं। लेकिन उन लोगों के लिये आध्यामिक जीवन पूर्णरूपेण निरापद है, जो निष्ठापूर्वक इस पथ का अनुसरण करते हैं, अपने कर्त्तव्यों का पालन पूजा के रूप में करते हैं, तथा आन्तरिक पवित्रता के लिये आवश्यक विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं को सतत करते रहते हैं।

हम सभी को आध्यात्मिक जीवन के खतरों से

सावधान रहना चाहिये तथा चरित्र के रूपान्तरण का प्रयत्न करना चाहिये जिसके द्वारा नैतिक पवित्रता और शक्ति प्राप्त होती है और हम उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति के लिये सक्षम होते हैं। इसी से हमारे भीतर विद्यमान तामसिक दानव और राजसिक मानव सात्विक देवता में रूपान्तरित हो सकते हैं, जो कि हमारा अव्यक्त स्वरूप है, तथा अन्ततः हम परमात्म-साक्षात्कार के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

पूर्ववर्ती अध्यायों में हम पहले ही अपने स्वभाव की शुद्धि के लिये आवश्यक विभिन्न साधनाओं का वर्णन कर चुके हैं। अब क्षणभर के लिये यह देखने का प्रयत्न करें कि सत्त्वगुण की अधिकाधिक वृद्धि से क्या होता है। नैतिक और आत्यात्मिक साधनाओं से उपलब्ध पवित्रता में सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लक्षण निम्न हैं : उसकी देह हल्की हो जाती है, तथा उसका देहात्म बोध कम हो जाता है। इन्द्रियों के सतेज और सबल होने से, सन्तुलन में वृद्धि होती है, मन पूर्ण सजग रहता है, और शुद्ध बुद्धि में आनन्द उमड़ पड़ता है। एक नयी आध्यात्मिक चेतना का उदय होता है। आत्मा परमात्मा के प्रति सचेत हो जाती है। कहानी का नीचे वाला पक्षी नित्य साक्षी, ऊपर वाले पक्षी, के प्रति सजग हो उठता है। अहंकार, मन, इन्द्रियों और देह के साथ मिथ्या तादात्म्यों से छुटकारा पाकर आत्मा चेतना के उच्चतर स्तरों पर आरोहण करता हुआ अन्त में परमात्मा के साथ एक हो जाता है। आध्यात्मिक प्रयास की यहाँ परिसमाप्ति होती है।

उपनिषद घोषणा करती है :

यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णं कर्तारमीशं
पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः
परमं साम्यमुपैति॥
(मुण्डकोपनिषद ३. १. ३.)

अर्थात् जब द्रष्टा ज्योतिर्मय, जगतकर्त्ता, ईश्वर ब्रह्मयोनि, परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब वह विद्वान् पाप और पुण्य से मुक्त हो, निरंजन परमसाम्य को पाप्त करता है। और श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, समस्त कल्मषों से रहित तथा द्वन्द्वों से विमुक्त, संयत मन और इन्द्रियों युक्त तथा समस्त प्राणियों के कल्याण में रत ऋषि ब्रह्म के साथ एक हो जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति प्राप्त करते हैं। (भगवद् गीता 5 : 28) यह एक देव मानव का आदर्श है। इस महान आदर्श की उपलब्धि के लिये हमें अपने जीवन का रूपान्तरण करना चाहिये। आध्यात्मिक आदर्श हमारे लिये सदा "आदर्श" ही बना नहीं रहना चाहिये। साधना को सदा के लिये यन्त्र वत् अन्यमनस्क भाव से की जानेवाला "साधना" ही नहीं बना रहना चाहिये। उसे हमारे जीवन को परिवर्तित करना चाहिये। हमारा जीवन रूपान्तरित हो जाना चाहिये। एक-न-एक दिन हमें भी देव-मानव की पवित्रता, दिव्य चेतना और प्रेम की उपलब्धि होनी चाहिये।

किसी से ऐसा मत कहो कि 'तुम बुरा हो' वरन् उससे कहो—'तुम अच्छे हो, और भी अच्छे बनो।
—स्वामी विवेकानन्द

भगवान श्री राम की महिमा-गरिमा

—गोपाल जी झा 'गोपेश'

अति प्राचीन काल में गंगा के उत्तरी क्षेत्र में एक राज्य था—जिसकी राजधानी थी अयोध्या। अयोध्या का शाब्दिक अर्थ है—जिसमें कोई पैठ न सके। दस रथों के स्वामी राजा दशरथ की तीन पत्नियाँ थीं, किन्तु उन्हें किसे से संतान प्राप्त नहीं हुई तब उन्होंने एक महान अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। उसमें राज्य के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति निमंत्रित किये गये। उसी समय देवगण भी ारे थे। उन्होंने ब्रह्मा जी से प्रार्थना की—सका उद्देश्य यही था कि लंका के राजा अर्द्ध-र रावण को जिस शक्ति का वरदान दिया गया ह, उसके खतरों से देवगणों को मुक्त करने के लिए कोई युक्ति ढूंढ निकालें। प्रकट है कि रावण को देवताओं के आक्रमण के सामने अमर रहने का वरदान प्राप्त हुआ था—दूसरी बात यह कि वह अपनी सत्ता का अनुचित उपयोग भी करने लग गया था जिसके चलते दैवी व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया था। ब्रह्मा जी ने सहायता की। प्रार्थना करनेवाले देवताओं को बताया कि अपने अहंकार में रावण यह भूल गया था कि उसे मनुष्यों के आक्रमण के विरुद्ध भी अपनी अमरता का वरदान माँग लेना चाहिये था—इसीसे उसका निराकरण करने का कोई रास्ता निकलने की आशा बंधती है। देवों ने आगे चलकर विष्णु की प्रार्थना की—जो पृथ्वी और स्वर्ग की व्यवस्था के रक्षक की हैसियत से हस्तक्षेप करने के अधिकारी थे। विष्णु ने वचन दिया कि वे इस कार्य को पूरा करने के लिए स्वयं ही दशरथ के चार पुत्रों के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण होंगे। इस भांति जब अयोध्या में प्रार्थनाएँ की जा रही थी तब यज्ञ के धुएँ से एक ज्योतिर्मय व्यक्ति प्रकट हुआ जो हाथ में एक प्याला लिए हुए था।

उसने राजा दशरथ से कहा—राजन्! आप इस प्याले के पेय को अपनी पत्नियों को दे दें और वे अपने पुत्रों को जन्म देंगी।' राजा की प्रथम पत्नी कौशल्या ने आधा प्याला पी लिया जिससे राम का जन्म हुआ। दूसरी पत्नी कैकयी ने बचे हुए प्याले में से आधा भाग पी लिया और भरत को जन्म दिया। तीसरी पत्नी सुमित्रा ने जो कुछ बचा था उसका आधा भाग पिया और पुनः शेष आधा भाग भी पी लिया और इस तरह जुड़वां बच्चों (लक्ष्मण और शत्रुघ्न) को जन्म दिया। लोक विश्वास में यही अवधारणा है कि इन माताओं ने जितना पेय पिया उसी अनुपात में उनके बेटों में दिव्य अंश उत्तर पाया। परन्तु कट्टरपंथी हिन्दू मान्यता अनन्त के साथ ऐसे हिसाब-किताब का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करती। उसके अनुसार अनन्त के सदर्भ में पूर्ण का अंश भी संपूर्ण ही होता है। ध्यातव्य है कि हिन्दू ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले अनन्त की अविभाज्यता का जो सिद्धांत सिखाया था यह गणितीय दृष्टि से सम्मत सत्य है। उसको अब उचित समीकरण के रूप में अभिव्यक्त किया जा चुका है। सोलह वर्ष की आयु तक राम हृष्टपुष्ट युवक बन गये थे—अपनी वीरता और दयाशीलता के लिए उनकी प्रशंसा होने लगी थी। उसी समय एक विद्वान और संतपुरुष विश्वमित्र उनके पिता के महल में आये। उन्होंने उन राक्षसों से मुक्ति प्राप्त करने

के लिए जो उनके यज्ञों में विघ्न डालते थे, राम की सहायता चाही।

पिता से आज्ञा प्राप्त कर राम अपने भाई लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र के साथ पहले अभियान पर गये। इसमें उन्हें गौरवशाली विजय प्राप्त हुई। विश्वमित्र ने बदले में उन्हें और ज्ञान दिया—साथ-साथ चामत्कारिक शक्ति वाले विभिन्न शस्त्रास्त्र भी दिये। अयोध्या के निकटवर्ती एक राज्य में राजा जनक निवास करते थे। उन्होंने संतान प्राप्ति के लिए देवताओं की आराधना की थी, जिन्हें अपने निवास के पास एक खेत में सुन्दर बच्ची पड़ी मिली जो स्वयं धरती से पैदा हुई थी। राजा जनक ने उस बच्ची को अपनी पुत्री की भांति पाल पोसकर बड़ा किया और उसका नाम रख दिया सीता। सीता का अर्थ होता है हल से बनी हुई लीक। सीता के विवाह योग्य होने पर राजा जनक ने उसके पाणिग्रहण हेतु प्रतिद्वंद्विता करने के लिए एक स्वयंवर का आयोजन किया, जिसमें अनेक राजकुमार बुलाये गये। राजा ने उन सबों को एक असाधारण रूप से भारी धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए कहा। इस धनुष के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि महाराज जनक के पूर्व पुरुष देवरात एक बड़े प्रसिद्ध एवं देश भक्त राजा थे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर देवताओं ने शिव का पिनाक धनुष उन्हें प्रदान किया था। इसी धनुष से पूर्व काल में महादेव जी ने अपने अपमानकारी प्रजापति दक्ष के यज्ञ को ध्वस्त किया था। कहा जाता है कि उक्त धनुष जिस संदूक में वह बन्द था उसमें आठ पहिये लगे थे उसे अनेक विशाल योद्धा खींच सकते थे। प्राय: पटरानी सुनयना स्वयं उस धनुष को रखने एवं सन्दूक को चारों ओर पूजा के लिए 'ठांव' किया करती थी—संदूक ज्यों का त्यों वहीं रह जाता था। एक दिन किसी कार्यवश स्वयं न आकर सुनयना ने सीता को धनुष के निकट 'ठांव' करने को कहा। सीता उस विशाल धनुष को बांये हाथ से उठाकर उसके तले में नोपती चली गयी। इस घटना को सुनयना ने कहीं से देख लिया और वह देखते ही चकित रह गयी। तभी तो महाराज जनक ने ऐसी प्रतिज्ञा की कि जो कोई इस विशाल धनुष को उठाकर तान देगा सीता का विवाह उसी से किया जायगा। दस-दस हजार सूरवीरों ने एक ही बार धनुष उठाने की चेष्टा की, किन्तु धनुष टस-से-मस तक नहीं हुआ। महाराज जनक को अति चिन्तित देखकर विश्वामित्र ने रामचन्द्र को धनुष तोड़ने का आदेश दिया। श्री राम ने कब धनुष को उठाया कब चढ़ाया और कब उसे तोड़ दिया यह किसी को पता नहीं। धनुष भंग के शब्द से तीनों लोक कांप उठा। सभा में बैठे अनेक राजे महराजे मुँह की खाकर मूर्च्छित हो गिरे। महाराज जनक की चिन्ता दूर हुई और आकाश से पुष्प वृष्टि होने लगी।

सीता के साथ राम विवाह का दृश्य सम-सामयिक देव चित्रकला का प्रिय विषय है। विभिन्न चित्रों में श्री राम को सदा अपना विशिष्ट प्रतीक धनुष संभालते हुए दिखाया जाता है। उनके अविच्छिन्न संगी के रूप में उनके भाई लक्ष्मण होते हैं। श्री राम का जीवन अनवरत अनेक पराक्रमों में भरा पूरा होता था। जब दशरथ बूढ़े हो गये तब उन्होंने राम को उत्तराधिकारी घोषित करने का निर्णय किया—किन्तु राम की सौतेली माँ—दशरथ की दूसरी पत्नी कैकेयी अपने पुत्र भरत को राजा बनाना चाहती थी और वह राम को सिंहासन देने से दशरथ को रोकने में सफल हुई। कैकेयी ने राजा दशरथ को एक वरदान देने के सम्बन्ध में उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए कहा कि उनके पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित किया जाय और राम तथा उनकी पत्नी को चौदह

वर्ष के लिए वनवास में भेजा जाय। राजा अपने वचन को वापस नहीं ले सकते थे—इसलिए वे राम और सीता को निर्वासित करने के लिए विवश हो गये। जब शोक से राजा की मृत्यु हो गयी तो भरत ने दैवी व्यवस्था भंग करने में सहयोग नहीं दिया। उन्होंने घोषणा की कि राम की अनुपस्थिति में वे अपने को राजसिंहासन का रक्षक मात्र मानेंगे। जनता जनार्दन को अधिकारी राजा का सदा स्मरण कराने के लिए उन्होंने अपने भाई की पादुकाएँ सिंहासन पर रख दी।

पतिव्रता सीता के और अपने भाई लक्ष्मण के संग (जिन्होंने वनवास में उनका साथ दिया) अनेक वर्षों तक वन में रहे। इसी बीच मुख्य उद्देश्य पूरा करने का (यानी रावण को मार डालने का)—समय आ गया जिसके लिए उन्हें पृथ्वी पर भेजा गया था। ब्रह्मा ने जो वरदान दिया था, उसकी शक्ति के मद में चूर होकर और देवताओं की ओर से निर्भीक होकर लंकेश, दस शीश वाले रावण को विश्वास हो गया था कि सृष्टि में कोई शक्ति उसका प्रतिरोध नहीं कर सकती। इसलिए जब उसकी बहन ने शिकायत की कि लक्ष्मण और राम ने उसके प्यार को ठुकरा कर उसका अपमान किया तो रावण ने परिणामों को आंके बिना ही, बदला लेने का वचन दे दिया। उसने सोचा कि सीता का अपहरण कर लिया जाय। इस योजना को पूरी करने के लिए उसने जो चाल चली उसमें तत्काल उसे सफलता भले ही मिल गयी हो किन्तु अन्त में उसे पराजय ही मिली। रामायण की कथा में श्री राम की महिमा-गरिमा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

सीता के वियोग में राम की अंतर्दशा का सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद सहज ही प्रकट हो जाता है कि उनके हृदय में वैदेही के लिए कैसा स्थान था। राम के हृदय पर सीता के विछोह से जो तीव्र आघात हुआ उससे द्योतित होता है कि जग जननी कितनी महान थी—

"हे सीते ! हे प्रणय देवि ! हे अवनि कुमारी।
हे प्राणाधिक प्रिये ! योगिश्वर-जनक दुलारी।
भेल कोन अपराध एहन जे हमरा छोड़ल ?
चिर सँ जोड़ल प्रेमसूत्र सहसा की तोड़ल ?"

(जीवनाथा झा : रावण वध महाकाव्य तृ० स० पृ० १२)

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम ने ताड़का वध में अपनी शक्ति का परिचय दिया था—अब उन्हें अपना सील का परिचय देना शेष रह गया था। अहिल्या एक साधारण अबला थी उसके जड़ हृदय में चेतन संजीवन फूँकना राम का ही कार्य था। श्री राम अपने इस अभियान में पूर्ण सफल सिद्ध हुए। अपने दिव्य प्रबोध से उन्होंने उस अनुतप्ता एवं अभिशापग्रस्ता की समस्त जड़ता को दूर कर दिया। यदि सच पूछा जाय तो अहल्या उद्धार है श्री राम को सबसे बड़ी सामाजिक क्रांति का कदम। उनके 'पतित पावन' अभियान का सोपान अहल्या से ही शुरू होता है। शबरी की भक्ति से राम को विवश होना पड़ता है। इसके आतिथ्य से वे बहुत प्रसन्न होकर, बदरी फल स्वाद-स्वाद कर खाते हैं रमेश्वरचरित मिथिला रामायण में भगवान ने स्पष्टत: स्वीकार किया है कि मुनियों से कितने मधुर फल प्राप्त हुए—किन्तु ऐसा स्वाद कहीं नहीं मिला। इसके बाद श्रीराम शबरी को नवधा भक्ति की शिक्षा देते हैं—"कहल राम तेहि नवधा शक्ति। श्रीमणी का भेल पूरणा शक्ति।"

(लालदास : रमेश्वरचरित मिथिला रामायण, अरण्य काण्ड, पृ० १५९)

श्री हनुमान जी श्री राम के दूत और सबसे बड़े भक्त हैं। उनके हृदय में सदा राम लक्ष्मण और सीता का निवास होता है। श्री राम के पास सीधे कोई नहीं जा सकता—उसे श्री हनुमान के माध्यम से ही जाना होगा—'राम दुआरे तुम रखवारे, होत न आज्ञा बिन पैसारे।' हनुमान के अनुसार श्री राम से बड़ा 'राम' के नाम का महत्त्व है।

हिमालय की गोद में स्वामी विवेकानन्द

—रतनचंद धोर

मई, १९०५ कश्मीर के विद्वान ब्राह्मण नंदलाल कोतरु की खुशी का पारावार न था जब उन्हें सूचना मिली कि कन्याकुमारी से स्वामी विवेकानंद जी कश्मीर-श्रीनगर पधारे हैं।

श्री नंदलाल जी उनसे मिलने गये, मन-ही-मन संकोचवश विवेकानन्द जी से कह भी न पाये कि हमारे घर चलिए, नंदलालजी के मन की बात जान कर स्वयं स्वामी जी बोले, "पंडित जी क्या हमें अपना घर नहीं दिखाओगे ?"

स्वामी जी के इस वाक्य ने जैसे नंदलाल जी को नया जीवन दे दिया हो। नंदलाल जी ने स्वामीजी के चरण स्पर्श करते हुए कहा, "महाराज यही बात मैं कहने जा रहा था, किन्तु साहस नहीं जुटा पाया था।"

"हम अभी आपके साथ घर चलते हैं।" कह कर स्वामी जी अपने सहयोगियों के साथ नंदलाल के साथ चल पड़े।

खीर भवानी के मंदिर में

स्वामी के साथ कन्याकुमारी से श्रीधरानन्द परमहंस, श्री रवि कुमारनंद तथा श्री प्रेमानंद जी साथ गये थे। चारों ही श्री कोतरु के मकान में पुराने श्रीनगर में पहुँच गये। दिन भर आराम करने के बाद स्वामी जी ने श्री नंदलाल जी को अपने पास बिठाते हुए कहा, "अरे पंडित जी आज मंगलवार है, हमें उस माँ के पास ले चलो, जो खीर का प्रसाद यहाँ पर आये भक्तजनों को देती है।"

"हाँ महाराज ! माँ का नाम ही खीर भवानी प्रसिद्ध हो गया है। किस समय चलना चाहेंगे, महाराज ?"

"पंडित जी, माँ तो मुझे अभी बुला रही है, फिर माँ के पास जाने का कोई समय थोड़ा होता है, जब चाहो माँ के पास चले जाओ। फिर माँ तो मुझे बहुत प्यार करती है।"

पंडित जी ने खीर भवानी के मन्दिर में चलने का प्रबन्ध किया।

कुछ समय बाद अपने श्रद्धालुओं के साथ स्वामी जी जैसे ही खीर भवानी के द्वार पर पहुँचे, तो इतने प्रसन्न थे, मानो वास्तव में उन्हें माँ मिली हों, खीर भवानी की प्रतिमा के चरण स्पर्श करके उनके सामने ही आसन पर बैठ गये, और एकटक माँ की ओर देखने लगे, दो घंटे के पश्चात स्वामी जी की समाधि लग गयी और फिर पचास घंटे के पश्चात् स्वामी जी ने जब आंखें खोली तो देखा कि चारों ओर जय माँ भवानी की धुन लगी थी, क्योंकि पचास घंटे लगातार अखंड कीर्तन होता रहा।

भक्तजनों के आग्रह पर स्वामी जी ने मंदिर में ठहर कर चार प्रवचन किये। उनके पहले प्रवचन का मूल बिंदु था, सबमें मेरी माँ और मेरे परमपिता परमात्मा हैं। प्रवचन का सारांश था—प्रिय भक्तजनों, मैं कन्याकुमारी से चल कर भारत के मस्तक तक आया हूँ—मुझे कोई कण भी ऐसा न दिखाई पड़ा, जहाँ मेरी माँ का वास न हो। नदियां माँ के गीत गा रहीं हैं, हवाएँ मल्हार गा रहीं हैं, वृक्ष, फूल, लता और पत्ते, पशु-पक्षी एवं प्राणी अलग नाम और ध्यान से मेरी माँ में लीन होना चाह रहे हैं। आप में से यदि किसी एक को भी सन्देह है, तो आओ मेरी आँखों से देखो, मेरे कानों से सुनो। मेरे दिल की धड़कनों पर हाथ रख कर देखो, मेरी माँ कैसे मुझे बुला रही है।

स्वामी जी के दूसरे प्रवचन का केन्द्रीय भाव था, कोई पराया नहीं। इस प्रवचन में उन्होंने बताया कि मेरा प्रभु कितने विशाल हृदय का है, उसने हमारे लिए अग्नि, जलवायु, आकाश, पृथ्वी दी और फल-फूल हमारे लिए बनाये। मेरे पिता के लिए कोई भी पराया नहीं है, छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, सब हमारी बुद्धि में है, उस पिता के हम सब बेटे हैं फिर वे भला क्यों ऐसा अन्याय करने लगे—जिससे हम एक दूसरे के छोटे-बड़े हों, ऊँच-नीच हों। मन्दिर-मस्जिद गुरुद्वारे और गिरजाघरों से जो भी पुकारें निकलती हैं, वे सब मेरे और आपके पिता को ही तो बुलाती हैं। किसी से भय न खाओ, यदि आपको भय खाना है, तो पाप से डरो, जिसका मूल झूठ है। क्योंकि झूठ ही एक ऐसा शत्रु है, जो हमें एक दूसरे से अलग कर देता है। मेरी आपसे प्रार्थना है कि परस्पर प्यार से रहो।

स्वामी जी का तीसरा प्रवचन राष्ट्रीय एकता के बारे में था। इसमें उन्होंने कहा था कि आप विचारते होंगे कि मैं बहुत भाषण नहीं करता हूँ। थोड़ी-सी बातें कर के ही चुप हो जाता हूँ। उसका अर्थ यह कभी नहीं कि मुझे भाषण करना नहीं आता। मैं एक विषय पर महीनों बोल सकता हूँ। अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट कर सकता हूँ। लेकिन आज समय अधिक कहने का नहीं है, क्योंकि हमारा प्यारा देश, पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है। इस भूमि को भगवान ने पवित्र मान कर कितनी बार अवतार लिया। माँ भवानी ने राक्षसों का वध करने के लिए महाकाली दुर्गा चंडिका का रूप धारण किया। आज वही देश कराह रहा है। हमें चाहिए कि परस्पर वैर-विरोध समाप्त कर के देश के लिए कुछ करें। मैं तो कितनी बार कह चुका हूँ कि आओ, इस देश के स्वाभिमान को जो रूठ कर चला गया, लौटा लायें। हिमालय से कन्याकुमारी तक जन-गण एक हो कर उठे और भारत माँ की बेड़ियाँ कट जायें।

स्वामी जी का चौथा प्रवचन

अपने अन्तिम प्रवचन में उन्होंने स्वर्ग की धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा था कि कुछ लोगों की धारणा है कि अच्छा काम करो स्वर्ग मिल जायेगा। मेरा सबसे अनुग्रह है कि भाई, अच्छा काम करो। भले ही किसी चाह के लिए करो। किंतु याद रखो, स्वर्ग यहीं हैं, इसी भारत को स्वर्ग कहते हैं। कल्पना में मत विचरण करो। तुम साक्षात् स्वर्ग में हो। जिस स्वर्ग की तुम कल्पना करते हो क्या उस धरा के पांव सागर में आये हैं? क्या उसका माथा बरफ से ढका है? अरे भाई, यही वह स्वर्ग है, तुम इसी स्वर्ग के बासी देवता हो। देवताओं को समझाया नहीं जाता, अपितु देवताओं का आह्वान किया जाता है। इसलिए मैं आप सबका आह्वान करता हूँ कि आओ, भारतीय संस्कृति की नाव, जो भंवर में डगमगा रही है, उसे किनारे तक ले जायें।

स्वामी विवेकानन्द आठ दिन खीर भवानी के मन्दिर में ही ठहरे थे। उस मन्दिर में आज भी उनका नाम और वहां आने का महीना संगमरमर पर अंकित है।

(२१ फरवरी १९८२ धर्मयुग से साभार।)

स्वामी विवेकानन्द की स्मृतियाँ (४)

—स्वामी सदाशिवानन्द

अनुवादक—श्रीरामकृष्ण गौड़—वाराणसी

इसके बाद से पंडित शिवानन्द प्रायः वाराणसी के श्रेष्ठ संस्कृत विद्वानों से स्वामीजी के बारे में बातचीत करते थे। इस प्रकार महामहोपाध्याय राखालदास न्यायरत्न जैसे अनेक रूढ़िवादी पंडित-गण स्वामी विवेकानन्द के ईश्वरत्व के बारे में आश्वस्त हो गए थे। पंडितजी स्वामीजी की तरफ चुम्बक की तरह खिंच गए थे और दोनों लोग घनिष्ट मित्र हो गए। चूँकि वे वाराणसी नहीं छोड़ते, इसलिए स्वामीजी उन्हें आशीर्वाद देने के लिए वाराणसी आए थे—ऐसा उनका आन्तरिक विश्वास था।

भिनगा के महाराजा लखनऊ के समीप के एक बड़े जमीन्दार थे। वे अँग्रेजी और संस्कृत के अच्छे जानकार थे और अपना शेष जीवन वाराणसी में बिताने का व्रत ले चुके थे। वे न केवल शहर की सीमा के भीतर ही रहते थे, बल्कि अपने उद्यानगृह से बाहर भी नहीं जाते थे। उनका लक्ष्य अपने शेष जीवन को वाराणसी के दुर्गा मन्दिर के समीपस्थ भिनगा राजमहल में बिताना था। वे एक साधक थे और संन्यासी की भाँति रहते थे। जब उन्हें स्वामीजी के आगमन का पता चला तो उन्होंने फल-फूल और मिष्ठान्न के उपहारों के साथ स्वामी गोविन्दानन्दजी को उनके पास भेजा। स्वामी शिवानन्द भी वहाँ उपस्थित थे। स्वामी गोविन्दानन्द ने दोनों लोगों को 'नमो नारायणाय' से सम्बोधित किया और कहा, "महाराजा आपका दर्शन चाहते हैं। यदि आप आज्ञा दें तो वे अपने उद्यान से बाहर न निकलने के पवित्र व्रत के बावजूद यहाँ आएँगे।"

स्वामीजी अत्यधिक संवेदनशील हो गए और तुरन्त बोले, "नहीं, नहीं, ऐसा कदापि नहीं होगा। उससे अपना व्रत भंग करने के लिए कहना अनुचित है। मैं स्वयं ही वहाँ जाऊँगा। राजा को यहाँ आने की जरूरत नहीं है।" अगले दिन या उसके बाद के दिन वे स्वामी गोविन्दानन्द और स्वामी शिवानन्दजी के साथ राजा से उनके उद्यान गृह में मिलने गए।

राजा ने कहा, "आप बुद्ध और शंकराचार्य की तरह महान आत्मा हैं।।" पूरा वार्तालाप स्वामी जी के प्रति इसी तरह के सम्मान और समपर्ण से युक्त था तथा राजा ने शास्त्रों एवं कर्म के बारे में बातचीत की। राजा अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में एक उत्साही कार्यकर्त्ता थे और उन्होंने स्वामीजी से वाराणसी में कुछ सेवा का मिशन चलाने की प्रार्थना की तथा इसका खर्च वहन करने का वादा किया। स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अतः वे ऐसा निश्चय नहीं कर सके। उन्होंने कहा, "मैं अभी बेलुड़ मठ वापस जा रहा हूँ और स्वास्थ्य ठीक होने पर इस कार्य के बारे में और अधिक सोचूँगा।" विभिन्न प्रकार के अन्य वार्तालाप के बाद स्वामीजी और स्वामी शिवानन्दजी 'सोनढावा' वापस आ गए।

अगले दिन भिनगा के राजा ने एक पत्रवाहक द्वारा एक बन्द लिफाफा भेजा जिसके भीतर पाँच सौ रुपए का चेक था और स्वामीजी के प्रति

सम्मानसूचक एक पत्र था। स्वामीजी ने अपने समीपस्थ स्वामी शिवानन्दजी से कहा, "महापुरुष, तुम कृपया इस धन से यहाँ श्रीठाकुर (श्रीरामकृष्ण देव) का एक मठ शुरू करो।" तदुपरान्त जुलाई में एक बगीचा किराए पर लिया गया और वहाँ रामकृष्ण अद्वैत आश्रम की स्थापना की गई।

एक दिन स्वर्गीय प्रमदादास मित्र के पुत्र श्री कालीदास मित्र सायंकाल लगभग पाँच बजे स्वामीजी का दर्शन करने आए। उनके पिता स्वामीजी के मित्र थे। स्वामीजी अपने पुराने मित्र के पुत्र से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। वे दरी पर बैठे। स्वामी शिवानन्द, चारु बाबू और मैं तथा अन्य लोग उनके पास बैठे एवं उनकी बातों को ध्यान से सुनने लगे। मैं युवक था और बीस वर्ष से अधिक आयु का नहीं था, इसलिए स्वामीजी की उस दिन की प्रत्येक बात मैं स्मरण नहीं कर सकता हूँ किन्तु आधी शताब्दी बीत जाने के बाद अभी भी स्वामीजी का चित्र मेरी याद में तरोताजा है।

महान और पवित्र आत्माए प्रायः किसी व्यक्ति के मन में उठे प्रश्नों का उत्तर प्रश्न पूछने के पहले ही दे देती हैं। स्वामी जी ने उस सन्ध्या को ऐसा ही किया। एक बार लंदन में अपना व्याख्यान शुरू करने के पहले ही स्वामजी ने कहा, "आप सभी लोग एक कागज पर कोई प्रश्न लिखकर अपनी जेब में रख लीजिए।" जब उन लोगों ने वैसा ही किया, तो स्वामीजी ने दाएं मुड़कर कहा, "आपका यह प्रश्न है।" तत्पश्चात् स्वामीजी ने देखा कि उनके बाएँ एक व्यक्ति अपने प्रश्न को बताने के लिए उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहा है। स्वामीजी ने फिर वैसा ही किया और उसके घर, घर की वस्तुओं, उसके निवासी, उस क्षण उन लोगों द्वारा किए जा रहे कर्मों का विवरण तथा अन्य बातें बताते चले गए। प्रश्नकर्त्ता के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति इस चमत्कारी दृष्टि पर आश्चर्य-चकित रह गया और इस प्रकार स्वामीजी ने लगभग छः या आठ व्यक्तियों के प्रश्नों और उनके घरों इत्यादि के बारे में विवरण दिया।

इंगलैंड में एक दिन स्वामी सारदानन्द, जो लम्बे समय से मलेरिया से पीड़ित थे और बहुत दुबले तथा कमजोर हो गए थे, स्वामीजी के पास उनके चरणों में बालसुलभ भाव में बैठे हुए थे। अपने गुरुभाई—जो उनके लिए दूसरी शरीर में श्रीरामकृष्ण ही थे—के प्रति शान्त और विनम्र-भाव से आत्मसमपर्ण करते हुए स्वामी सारदानन्द जी ने आध्यात्मिक भावावेश की प्रेरणावश स्वामीजी से आशीर्वाद तथा ज्ञान एवं मुक्ति की प्रार्थना की। एक पल में वे शान्त थे तथा स्वामी जी की इच्छामात्र से वे स्वस्थ और सबल हो गए। स्वामी सारदानन्दजी ने अपने प्रति इसके पूर्व कभी भी न प्रकट होनेवाली स्वामीजी की इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रमाण दिया है। अनेक लोगों ने, जिनमें कुछ अभी भी जीवित हैं, स्वामीजी द्वारा महान शक्तियों और सिद्धियों को प्रकट करने की अवस्थाविशेष को देखने का सौभाग्य प्राप्त किया है। स्वामीजी के पास विपुल सिद्धियाँ थीं, किन्तु वे उनके भीतर दबी पड़ी रहती थी क्योंकि स्वामीजी उन्हें प्रदर्शित करने से घृणा करते थे।

कालिदास मित्र ललितकला के बहुत प्रेमी थे और उन्होंने इसका गहराई से अध्ययन किया था। जैसे ही कालिदास मित्र कमरे में बैठे, उनके विचार स्वामीजी के चेहरे का रंग, स्वर की सामान्य अभिव्यक्ति एवं बातचीत का ढंग एकदम बदल गया। उन्होंकि कालिदास मित्र को देखा और ललित कलाओं, चित्रकारी और उससे संबद्ध शाखाओं, विभिन्न देशों की वेशभूषा और प्रकृति से उनका सम्बन्ध एवं उनके बातचीत के ढंग के बारे में बोलने लगे। वे इस प्रकार बोले मानो

कलाकारों और चित्रकारों की किसी सभा में बहुत विद्वत्तापूर्ण और रोचक भाषण दे रहे थे। उस समय कोई यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि वे स्वयं एक चित्रकार और कलाकार के अलावा कुछ थे तथा उन्होंने अपने जीवनभर कला और चित्रकारी के अभ्यास के अलावा भी कुछ किया था।

रंगों की संगति, विभिन्न रंगों की छटा, लालित्य, भावों का संयोजन, आबक्ष प्रतिमा, कमर और आँखों की मुद्रा एवं विभिन्न प्रकार की भावभंगिमा और हावभाव इत्यादि—उनके भाषण के विषय थे। मैं युवक था और विषय को विशद रूप में समझ नहीं सका किंतु मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि यह मोटे तौर पर कला, चित्रकारी और शिल्प पर एक आश्चर्यजनक भाषण था।

तत्पश्चात् स्वामीजी ने इटली, फ्रांस, चीन, फारस, जापान, बौद्ध तथा मुगलकालीन भारत की विभिन्न प्रकार की चित्रकारी की कलाशैलियों की तुलना और भेद का विवेचन किया।

विवेक चूड़ामणि

—ब्रह्मलीन स्वामी वेदान्तानन्द

अनुवाददक—स्वामी अमृतानन्द, वाराणसी

घटाकाशं महाकाश इवात्मनं परात्मनि
विलाप्याखण्ड भावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥ २८८

हे विचारवान साधक, घट के अन्दर का आकाश जिस प्रकार महाकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जीवभाव को परमात्मा के लय करके आत्मस्वरुप में स्थित हो तर्कविचारादि त्याग करो।

अनुभूति ही सार है। वृथा तर्कविचार से क्या फल मिलेगा? 'नानुध्यायादद् बह्वाञ्चध्वदान् वाचो विग्लापनं हि तत्।' बृ० उ० ४।४।२१—'जिज्ञासु बहुत से शब्दों की चिन्ता न करें; क्योंकि वह वागिन्द्रियों के लिए ग्लानि कर है।'

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥२८९

ब्रह्म के साथ अभेदभाव के अवलम्बन द्वारा स्वयं के स्वप्रकाशकत्व एवं सर्वाधिष्ठानत्व को उपलब्धि कर, विश्व ब्रह्माण्ड के सभी भोग्यवस्तु एवं अपने देह को भी मलभाण्ड की भाँति हेय पदार्थ जानकर इन सब के प्रति आसक्ति का त्याग करो। २८९

आत्मा ही जीव जगत का एकमात्र अधिष्ठान है; आत्मा को आश्रय करके विश्व ब्रह्माण्ड का सबकुछ प्रकाशित हो रहा है। परन्तु जीव स्वयं के स्वरुप को भूल कर व्यष्टि देह में एवं क्षुद्र विषय समूह में 'मैं और मेरा' बोध हेतु सुख-दुःख अनुभव करता है। ईसलिए आत्मनिष्ठ होने के लिए विषयों में तुच्छताबुद्धि आना प्रयोजन है। जड़ देह में 'मैं' का अभिमान नास्तिकता को प्रकाशित करता है।

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥ २९०

देह में जो 'मैं और मेरा' बोध वर्तमान है, उस बोध को सदानन्द चैतन्य-स्वरूप आत्मा में स्थिर कर, पुनः लिंग देह में भी 'मैं और मेरा' का अभिमान त्याग कर सर्वदा अद्वैत आत्मस्वरूप को आश्रय करो।

इस श्लोक में लिंग पद के द्वारा वर्ण एवं आश्रमविहित देह के चिह्न समूह भी, जैसे—शिखा, उपवीत, जटाबल्कल, भगुवा वस्त्र आदि भी समझा जा सकता है। वर्ण एवं आश्रमधर्म का अभिमान ज्ञान का प्रतिबन्धक है।

यत्रेष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२९१

जिस प्रकार से दर्पण के अन्दर नगर का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार 'ब्रह्म रूपी मेरे' अन्दर यह दृश्यमान जगत प्रतीत हो रहा है, ऐसा अनुभव कर कृतार्थ हो जाओ। २९१

दर्पण के अन्दर नगर का प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी दर्पण के अन्दर यर्थाथ कोई नगर नहीं रहता है। दर्पण रूप अधिष्ठान तो सत्य है; परन्तु उसमें प्रतिबिम्बित नगर मिथ्या है। ब्रह्म रूप अधिष्ठान में जगत की प्रतीति होती है। ब्रह्म सत्य है जगत मायामय है। साधक जब ब्रह्म के साथ अपना अभेदभाव सर्वदा अनुभव करेगा, दृश्यमान नाम रूपात्मक जगत ब्रह्म भिन्न और कुछ भी नहीं है, ऐसी प्रतिति जब उसकी दृढ़ होगी, तब उसके सभी कृत्य (कर्तव्य कर्म) कृत (परिसमाप्त) हो जायेंगे। अहंबोध नष्ट हो जाने के फलस्वरुप उसमें कोई भी कर्तव्य बुद्धि शेष नहीं रह जायेगा।

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥"
गीता ३।१७

जिस व्यक्ति की प्रीति आत्मा में ही है, आत्मा में ही जो तृप्त है एवं आत्मा में ही जो सन्तुष्ट है उसके लिए कोई भी कर्तव्य नहीं रह जाता है।

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं
चिदद्वयानन्दमरूपमक्रियम् ।
तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजेत
शैलूपतद्वेषमुपत्तमात्मनः ॥ २९२

अभिनय काल में नट जो वेश धारण करता है, अभिनय के अन्त में उसे जिस प्रकार त्याग देता है उसी प्रकार—सत्य स्वरुप, अनादिकाल से वर्तमान, चैतन्यधन, अद्वितीय, आनन्दमय, रूप रसादि गुण-वर्जित एवं निष्क्रिय अपने स्वरूप को उपलब्धि कर स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणदेह में 'मैं-मेरा' का अभिमान त्याग करें। २९२

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं
नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनादयनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य
तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥"
कठ० उ० १।३।१५

"जो शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्धविहीन है, जो अक्षय, शाश्वत, अनादि और अनन्त है, जो महत तत्व से भिन्न एवं कूटस्थ नित्य है, उन्हें जान लेने पर जीव मृत्युमुख से विमुक्त हो जाता है।"

सत्वभूत = तीनों काल में एकरूप = स्वतःसिद्ध।
आद्य = तीनों कालों द्वारा अपरिछिन्न होने के कारण सभी वस्तुओं का आदि।

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव
नैवाहमर्थः क्षणिकत्वदर्शनात् ।
जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतिः
कुतोऽहमोदः क्षणिकस्य सिध्येत् ॥ २९३

यह दृश्य सर्वप्रकार से मिथ्या है। अल्पकाल स्थायी होने के कारण अहंकार भी परम सत्य नहीं हो सकता है। 'मैं सबकुछ जानता हूँ' इस प्रकार का ज्ञान क्षणस्थाई अहं आदि को किस प्रकार से हो सकता है? (किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता है।) २९३

आशंका :—अहंकार को क्षणिक नहीं कहा जा सकता है। पूर्व में जाना हुआ कोई वृत्तांत जब कोई वक्ता कहना प्रारम्भ करता है तो श्रोता थोड़ा सुनकर कह उठता है, 'रुको, तुम जो कहोगे वह सब मैं जानता हूँ।' अहं यदि क्षणिक होता तो श्रोता का अतीत विषयों में ज्ञान नहीं रहता तथा वह इस प्रकार से न कह सकता। एक के द्वारा दृष्ट वस्तु दूसरे के स्मरण में न रहता। अतएव, अहं क्षणिक नहीं है, वरन अहंकार ही आत्मा है।

समाधान :—सुषुप्ति में अहंकार का अनुभव नहीं होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में उसका अनुभव होता है। अतः वह उत्पत्ति—विनाशशील है। जाग्रत अवस्था में भी अल्पकाल के लिए विस्मृत पदार्थ का अनुभव होता है। क्षणकाल की यह विस्मृति ही अहंकार के क्षणिकत्व का प्रमाण है। अहंकार तो क्षणस्थायी है। अतः 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह बोध कैसे उत्पन्न हो सकता है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं :—

अहंपदार्थस्त्वध्मादि साक्षी नित्यं
सुषुप्तावपि भावदर्शनात्।
ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं
तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः॥ २९४

परन्तु शुद्ध आत्मा अन्तःकरण आदि का द्रष्टा है। सुषुप्तिकाल में भी आत्मा साक्षी रूप में वर्त्तमान होने के कारण यह चिरवर्त्तमान है। 'अजः नित्यः' आदि मन्त्र में श्रुति स्वयं यह कहती है। यह अन्तरात्मा स्थूल एवं सूक्ष्म से भी पृथक है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं
कुताश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न
हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
क० उ० १।२।१८

'सर्वज्ञ आत्मा का न तो जन्म होता है और न ही वह मरता है। यह आत्मा किसी कारण से उद्भूत नहीं होता है, इससे भी कुछ उत्पन्न नहीं होता है। यह आत्मा जन्महीन नित्य, शाश्वत एवं पुराण है। शरीर निहत होने पर भी इसका नाश नहीं होता है।'

आत्मा नित्य एवं सुषुप्ति का साक्षी होने के कारण सुषुप्ति का अस्तित्व प्रमाणित होता है—'मैं सुखपूर्वक सोया' ऐसा अनुभव होता है। जाग्रत-स्वप्न-पुषुप्ति इन तीनों काल में वर्तमान होने के कारण आत्मा मनः-बुद्धि-अहंकार और चित का साक्षी है। आत्मा नित्य होने के कारण ही 'मैं सब कुछ जानता हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। ●

प्रश्न : माँ, मैं तुम्हारे पास इतने समय से आ रहा हूँ और मुझे लगता है कि मुझे तुम्हारी कृपा प्राप्त हो गयी है, फिर भी मुझे कोई अनुभव नहीं होता।

उत्तर : बेटा, मान लो तुम एक पलंग पर सो रहे हो और अगर तुम्हें कोई पलंग समेत किसी दूसरी जगह पर उठा कर रख दे, तो क्या तुम जागते ही यह जान सकते हो कि तुम एक नये स्थान में आ गये हो? तुम बिल्कुल नहीं जान सकोगे। जब तुम्हारी तन्द्रा पूरी तरह से मिट जाएगी, तभी तुम जान सकोगे कि तुम एक नयी जगह पर आ गये हो।

—माँ सारदा

समाचार

स्वामी विवेकानन्द का ऐतिहासिक स्मारक

पोरबन्दर, १२ जनवरी, १९९७

स्वामी विवेकानन्द का जन्म दिन १२ जनवरी को युवा दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस वर्ष १२ जनवरी को गुजरात के मुख्यमंत्री श्री शंकर सिंह बघेला ने रामकृष्ण मठ और मिशन के सचिव स्वामी आत्मस्थानन्द जी महाराज को ऐतिहासिक भोजेश्वर भवन, जिसमें १८९१-९२ में स्वामी विवेकानन्द करीब चार महीनों तक ठहरे थे, एक स्मारक की स्थापना के लिए हस्तान्तरित किया।

पोरबन्दर में स्वामी विवेकानन्द पोरबन्दर राज्य के तत्कालीन प्रशासक श्री शंकर पाण्डुरंग पंडित के अतिथि थे। श्री पंडित बहुत बड़े विद्वान् थे। इनके सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु भाई स्वामी अखंडानन्द को कहा था कि उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष में पांण्डुरंग के समान वेदों का मर्मज्ञ नहीं देखा था। पोरबन्दर में स्वामी विवेकानन्द ने श्री शंकर पंडित को अथर्ववेद के सम्पादन में सहायता की थी और उनसे स्वामी जी ने पाणिनि के महाभाष्य का अध्ययन समाप्त किया था। उन्होंने श्री पंडित के परामर्श पर फ्रेंच भाषा भी सीखी थी। श्री पंडित ने स्वामी जी से कहा था—"स्वामी जी, यह आपके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।" श्री पंडित ने स्वामी जी को वेदान्त का उपदेश देने के लिए पश्चिमी जगत में जाने का सुझाव दिया था। सम्भवतः पोरबन्दर में ही स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार अगले वर्ष शिकागो में होनेवाले धर्म सभा के विषय में सुना था।

प्रायः ३५०० लोगों की उपस्थिति में विधिवत् हस्तान्तरण महोत्सव सम्पन्न हुआ। इसमें पोरबन्दर के छात्र, शिक्षक, प्रशासक और प्रबुद्ध नागरिक उपस्थित थे।

रामकृष्ण मठ के महासचिव और गुजरात के मुख्यमंत्री ने अपने भाषणों में वर्त्तमान काल में स्वामी विवेकानन्द के सार्वजनीन संदेशों की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला। रामकृष्ण मठ के राजकोट केन्द्र के सचिव स्वामी जितात्मानन्द ने गुजरात की सरकार और अधिकारियों को इस ऐतिहासिक भवन के गरिमापूर्ण हस्तान्तरण के हेतु शीघ्र कार्रवाई करने और स्मारक की स्थापना के हेतु धन्यवाद ज्ञापन किया।

श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम

रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर
छपरा - ८४१ ३०१ (बिहार) दूरभाष : 06152-22639

स्वामी विवेकानन्द प्रतिमा-स्थापन

नम्र निवेदन

प्रिय महोदय / महोदया,

आपको यह सूचित करते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है कि पश्चिमी जगत में भारतीय धर्म और अध्यात्म की विजय पताका लहराने के उपरान्त दिग्विजयी **स्वामी विवेकानन्द** के भारत प्रत्यागमन के शताब्दी-महोत्सव वर्ष की स्मृति में स्वामी विवेकानन्द की आदमकद कांस्य-प्रतिमा की स्थापना करने का शुभ संकल्प छपरा के नागरिकों ने लिया है। छपरा स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी अद्भूतानन्द (लाटू महाराज) के जन्म-जिला का मुख्यालय है।

श्री लालू प्रसाद, माननीय मुख्यमंत्री, बिहार ने कृपापूर्वक स्वामीजी की प्रतिमा का शिलान्यास गत १ मार्च, १९९७ को किया है।

मनुष्य-निर्माण, चरित्रगठन, सामाजिक न्याय, सर्वधर्म समभाव एवं भारत के पुनर्निर्माण के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द की प्रतिमा एक विद्युत-तरंग का कार्य करेगी एवं वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा का प्रकाशपुंज सिद्ध होगी— यह निर्विवाद है।

अतएव, आपसे हमारा नम्र निवेदन है कि इस याज्ञिक कार्य में उदारतापूर्वक दान देकर हमारे विनम्र प्रयास का सहभागी बनने की कृपा करें। इस महनीय कार्य में बड़े से बड़ा दान भी अल्प है और छोटे से छोटा दान भी महत्तम है।

स्वामीजी की कृपा आप पर निरन्तर बरसे—यही प्रार्थना है।

प्रेम और शुभकामनाओं सहित—

स्वामी विवेकानन्द चरणाश्रित
आपका
(डॉ० केदारनाथ लाभ)
सचिव

१५ अप्रैल, १९९७

चेक या ड्राफ्ट रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा (बिहार) के नाम से भेजने की कृपा करें। नकद रुपये मनीआर्डर से भेजे जा सकते हैं।

डाक पंजीयित संख्या—सी० एच० पी०—१४-८३

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी की बहुप्रतीक्षित बृहत् जीवनी

युगनायक
विवेकानन्द

तीन खण्डों में

स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखित
स्वामी विवेकानन्दजी की यह मूल बंगला जीवनी
उनका अत्यन्त प्रामाणिक और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न
जीवन-चरित मानी जाती है। सर्वदूर समादृत यह ग्रन्थ अब
हिन्दी-भाषी पाठकों को उपलब्ध हुआ है। हिन्दी में
स्वामी विवेकानन्दजी की बृहत्, प्रमाणभूत जीवनी का
अभाव था, जिसकी पूर्ति इस प्रकाशन से अब
हो गई है।

हर खण्ड करीब डमाई ४०० पृष्ठों का है।

हर खण्ड का मूल्य रु० ५०/- तीन खण्डों का एकत्रित मूल्य रु० १२०/-

प्रकाशक :

रामकृष्ण मठ

(प्रकाशन विभाग), धन्तोली, नागपुर—४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रित।